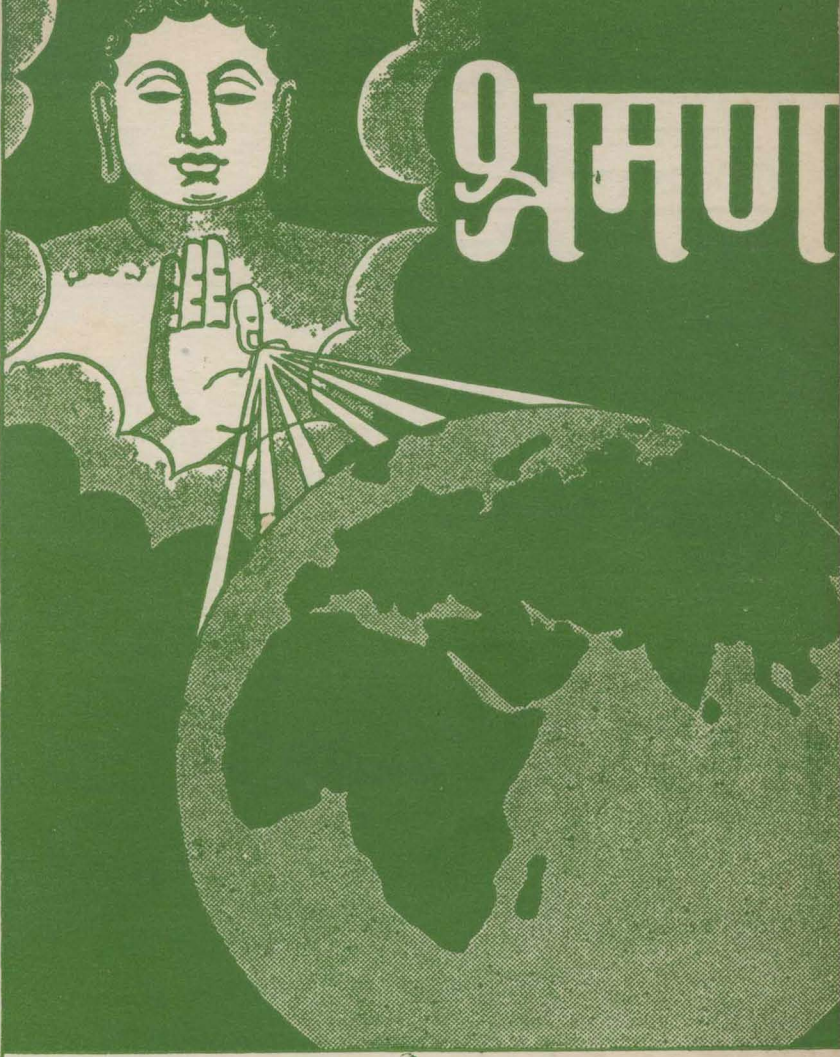


श्रमण



पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

वाराणसी-५

अप्रैल-जून १९६१

वर्ष ४२

अंक ४-६

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

सम्पादक
डॉ० अशोक कुमार सिंह

सहसम्पादक
डॉ० शिवप्रसाद

वर्ष ४२

अप्रैल-जून १९९१

अंक ४-६

प्रस्तुत अंक में

- | | | |
|--|-----------------------------------|--------------------------|
| १. अहं परमात्मने नमः | — प्रो० कल्याणमल लोढा | १ |
| २. प्राकृत व्याकरण : वररुचि वनाम हेमचन्द्र | — अन्धानुकरण
या विशिष्ट प्रदान | — के० आर० चन्द्र
११ |
| ३. वसन्तविलासकार बालचन्द्रसूरि : | व्यक्तित्व एवं कृतित्व | |
| | — डा० यदुनाथ प्रसाद दुबे | २१ |
| ४. अन्य प्रमुख भारतीय दर्शनों एवं जैन दर्शन में | कर्मबन्ध का तुलनात्मक स्वरूप | |
| | — कु० कमला जोशी | ३३ |
| ५. ऋग्वेद में अहिंसा के सन्दर्भ | — डा० प्रतिभा त्रिपाठी | ४५ |
| ६. जैन आगमों में वर्णित जातिगत समता | — डा० इन्द्रेश चन्द्र सिंह | ६३ |
| ७. आचारांग में अनासक्ति | — डा० श्रीप्रकाश पाण्डेय | ७३ |
| ८. जैन अभिलेखों की भाषाओं का स्वरूप एवं विविधताएं | — डा० एस० एन० दूबे | ८९ |
| ९. महावीर निर्माण भूमि पावा | — श्री भगवती प्रसाद खेतान | ९३ |
| १०. समाधिमरण की अवधारणा की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में | समीक्षा | — प्रो० सागरमल जैन
९९ |
| ११. साहित्य सत्कार | | १०६ |

वार्षिक शुल्क

एक प्रति

चालीस रुपये

दस रुपया

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान सहमत हो।

अर्हं परमात्मने नमः

प्रो० कल्याणमल लोढा

‘अर्हं परमात्मने नमः’—यह मंत्र आचार्य श्री कमलप्रभ के श्री जिनपंजरस्तोत्र से है। जैन दर्शन और साधना में अर्हं का महत्त्व सर्वमान्य है। बीजाक्षरी पद्धति से यह साधक के लिए सर्वोपरि और सर्वसम्मत है। सप्ताक्षरी व अनेक मन्त्र अर्हं के ही मान्य मंत्र हैं। इस निबन्ध में हम प्रमुख रूप से कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के अनुसार ही इसकी विवेचना करेंगे। इस विवेचना के आधार हैं, उनके द्वारा रचित श्रीहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्, योगशास्त्र व द्वयाश्रय महाकाव्य। इन तीन ग्रन्थों का आश्रय लेकर हम अर्हं सम्बन्धी उनकी व्याख्या को स्पष्टतः समझ सकते हैं।

सर्वप्रथम शब्दानुशासनम् को ही लें, जिसकी स्वोपज्ञ तत्त्व-प्रकाशिका टीका शब्दमहार्णवव्यास से संवलित है। अर्हं का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं—‘अर्हं इत्येदक्षरम्। परमेश्वरस्य परमेष्ठिनो वाचकम्। सिद्ध चक्रस्या स्यादिवीजम्। सकलागमोपनिषद् भूतम्। अशेष विघ्न-विघातनिघ्नम्। अखिल दृष्टादृष्ट फल संकल्प कल्प द्रमोपमम्, आशास्त्राध्ययना ध्यापनावधि प्रणिधेयम् प्रतिधानं चानेनात्मनः सर्वतः संभेदस्तदमिधेयेन चाभेदः। वयमपि चेताच्छास्त्रारम्भे प्रणिद्धमहे। अयमेव हि तात्त्विको नमस्कार इति।’ तत्त्वप्रकाशिका में इन पदों को स्वरूपम्, अभिधेयम् तात्पर्यम्, क्षेगम योगः प्रणिधानम् प्रणिधानस्य द्वैविध्यम् विशिष्ट प्रणिधानम् और तत्त्वम् के अधिकरण से व्याख्या की गयी है। इन सबके विशेषार्थं निमित्त शब्दमहार्णवव्यास द्रष्टव्य है। अर्हं परमेश्वर परमेष्ठि का वाचक, सिद्ध चक्र का आदिवीज, सकल आगमों का रहस्य, सर्व विघ्ननाशक एवं सभी दृष्ट-अदृष्ट के फलों का संकल्प पूर्ण करने के लिए कल्पतरु सदृश है। शास्त्रानुशीलन के लिए इसका प्रणिधान आवश्यक है। प्रणिधान दो प्रकार का है—प्रथम परमेष्ठी के साथ आत्मा का अभेद एवं संभेद।

अर्हं को तात्त्विक नमस्कार है।

अर्हं सिद्धचक्र रूपी तन्त्र का आदिबीज है।

धर्मसारोक्षरम् के अनुसार—

अक्षरमनक्षर वै द्विविधं तत्त्वभिष्यते।

अक्षरं बीजमित्याहुर्निबीज चाऽप्यनक्षरम् ॥

अक्षर और अनक्षर दो प्रकार के तत्त्व हैं—बीज सहित होने से अक्षर और बीज रहित होने से अनक्षर। इसी प्रकार जो स्व स्वरूप से चलायमान न हो वह अक्षर है—यही तत्त्व ध्येय रूप ब्रह्म है। मंत्र शब्द का अर्थ है—‘मन्यते ज्ञायते आत्मादेशोऽनेन इति मन्त्रः,’ अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा का आदेश निजानुभव से जाना जाय वह मन्त्र है। अन्य प्रकार से विचारकर लें—‘आत्मादेशी येन समन्त्रः,’ जिसके द्वारा आत्मादेश पर विचार किया जाय वह मन्त्र है। तृतीय दृष्टि से ‘मन्यन्ते सत्क्रियन्ते परमपदे स्थिताः आत्मानः वा यक्षादिशासनदेवता अनेन इति मन्त्रः’ अर्थात् पंच आत्माओं अथवा यक्षादि शासनदेवता का सत्कार किया जाय वह मन्त्र है। मन्त्र कूट और अकूट दो प्रकार का होता है। संयुक्त मन्त्र को कूट और असंयुक्त मन्त्र को अकूट कहते हैं। कूट मन्त्र में अधिक अक्षरों में भी मन्त्र एक ही अक्षर होता है—अन्य परिकर स्वरूप होते हैं। मन्त्र से आत्म-ध्यान, ज्ञान और अभेदत्व सिद्ध होता है—

भिद्ययते हृदय ग्रन्थि छिद्यन्ते सर्व संशयाः

क्षीयन्ते चैव कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परापरेः

(मुण्डकोपनिषद् २-२८)

अभिधेयार्थ की दृष्टि से अर्हं परमेश्वरपरमेष्ठि का वाचक मन्त्र है। परमेष्ठि से तात्पर्य है—अरिहंत परमात्मा, जो परम पद पर स्थित है परमेष्ठि है। परमेश्वर उपपदः (विशेषण) के लिए हेमचन्द्राचार्य का कथन है—

रागादिभिरनाक्रान्तो, योगक्षेम विधायकः

नित्यं प्रसत्ति पात्रं यस्तं देवं मुनियोविदुः।

जो रागादि से आक्रान्त नहीं हैं, योग-क्षेम के दाता हैं—सदा प्रसन्न रहते हैं—मुनिगण उन्हें ही देव कहते हैं (दृष्टव्यः लोगस्स व नमोत्थुण

सूत्र) तात्पर्य की दृष्टि से अहं सिद्धचक्र का आदिबीज है। सिद्धचक्र का आदिबीज कहने का प्रयोजन है कि समस्त बीज मन्त्रों में यही आदि है। इस सिद्धचक्र में अहंकार प्रथम बीज है। इसी को 'सकलागमोपनिषद्भूतम्' कहा जाता है—अर्थात् सभी आगम उपनिषदों का सार। उपनिषदों के संदर्भ में हेमचन्द्राचार्य कहते हैं—

अकारेणोच्यते विष्णु रेफे ब्रह्मा व्यवस्थितः

हकारेणहरः प्रोक्तस्तदन्ते परम पदम् ।

(अकार से विष्णु, रेफ से ब्रह्मा और हकार से शिव और अनुस्वार परम पद वाचक है) क्षेम, इस लिए कहा गया है कि यह धर्म क्रिया-साधना में समस्त विघ्नों की विनष्टि करने वाला है—सम्पूर्ण विनष्टि/अशेष। इसी से उसे क्षेमकर कहा गया है। योग की दृष्टि से अहं कल्पवृक्ष है, जिस प्रकार कल्पवृक्ष से वांछित फल संकल्प मात्र से प्राप्त होते हैं उसी प्रकार अहं से भी। कल्पवृक्ष के नीचे अमृत की बाँछा से अमृत और मृत्यु की इच्छा से तत्काल मृत्यु प्राप्त होती है। संकल्प मनुष्य को समाधि की ओर व विकल्प व्याधि की ओर ले जाता है। फल तीन प्रकार का कहा जाता है :—क्रियोत्पन्न, पुण्योत्पन्न एवं 'क्रियोत्पन्न एवं पुण्योत्पन्न'। दृष्ट फल वह है जो क्रिया विशेष से उत्पन्न होता है, अशुभ विचार, आचार से अशुभ की प्राप्ति होती है। अदृष्ट फल पुण्य विशेष से प्राप्त होता है। तृतीय तो व्यंतर देवों को ही मिलता है। यहां कल्पवृक्ष कहने का तात्पर्य है कि सभी कल्पों का समुदित फल एक साथ ही देने में अहं समर्थ है। अहं का प्रणिधान स्वाध्याय के प्रारम्भ से समाप्ति तक करना चाहिए। प्राणिधान के दो भेद हैं—अहं के साथ आत्मा का चतुर्दिक संभेद और परमेष्ठि के साथ अभेद। प्रणिधान चार प्रकार का होता है—पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। अहं में व्याप्त श्री अरिहंत का ध्यान पदस्थ होता है, 'अनेनात्मनः सर्वतः' संभेद इत्युक्त पदस्थमृशरीरस्थ ध्यान पिण्डस्थ, प्रतिमा रूप में रूपस्थ और योगीगम्य रूपातीत है। योगसूत्र में श्री हेमचन्द्राचार्य ने इसकी विशेष व्याख्या की है, जिस पर आगे विचार करेंगे। संभेद प्रणिधान में भेद होता है, यह भेद संश्लेष अन्यथा सम्बन्ध रूप से होता है। परमेश्वर परमेष्ठि के साथ आत्मा का एकीभाव अभेद प्रणिधान होता है। जिस प्रकार सूर्य समस्त जगत को ज्योतिर्मय करता

है, उसी प्रकार महात्मा चौतीस अतिशय को जानकर, समस्त दिशाओं को आलोकमय करता है—कर्म कलंक शान्त हो जाते हैं—और अरिहंत के साथ आत्मा अभेद हो जाता है—‘अर्हदभिन्नं अर्हि कारणेण सर्वतो-वेष्टितमात्मानं ध्यायेत्’। अर्हं तात्त्विक मंत्र है। इससे यही हमारे लिए प्रणिधेय है—आत्मोत्कर्ष का साधन’। श्री हेमचन्द्राचार्य ने योगसूत्र के अष्टम प्रकाश में—एवं अर्हं, अर्हं और हं का विवेचन किया है। उसे देखें—

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्
चतुर्था ध्येयमाप्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः (८-८-८)

पिण्डस्थ ध्येय में पांच धारणाएं होती हैं—पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी तत्त्वती। इन समस्त धारणाओं में अर्हं का ध्यान ही व्याख्यायित है। पदस्थ ध्यान के लिए—

यत्पदानि पवित्राणि, समालम्ब य विधीयते।

तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यानं सिद्धान्त पारगैः।

प्रभावी मन्त्राक्षर आदि पवित्र पदों का आश्रय लेकर जो ध्यान किया जाता है, उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं। यही मातृका ध्यान है, जिसके फलस्वरूप अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसी प्रकरण में निम्न श्लोक भी ध्यातव्य है—

अकारादिहकारान्तं रेफ मध्यं स बिन्दुकम्
तदेव परमं तत्त्वं यो जानाति स तत्त्ववित् (ज्ञानार्णव-१९३४)
महत्त्वमिदं योगी यदैवध्यायति स्थिरः
तदैवानन्द सम्पद भूः मुक्तिश्रीरूप तिष्ठते

अर्थात् अकारादि आदि में, हकार अन्त में और बिन्दु सहित रेफ मध्य में है वही अर्हं है—जो इसे जान लेता है वही वस्तुतः तत्त्वज्ञ है। जो योगी चित्त को स्थिर कर महातत्त्वरूपेण अर्हं का योग करता है—उसके समक्ष आनन्द रूप सम्पदभूमि के समान मोक्ष की स्थिति होती है। रूपस्थ ध्यान के अभ्यास से योगी सर्वज्ञ हो जाता है—उसे परम-तत्त्व से अभेदत्व होता है—यही सर्वज्ञ भगवान् में तन्मयता है—

योगीचाभ्यास योगेन तन्मयत्वमुपागत

सर्वज्ञी भूतमात्मानम् अवलोकयति स्फुटम्।

इस ध्यान से सभी कषाय समाप्त हो जाते हैं और उसकी आत्मा स्फटिक के समान निर्मल हो जाती है। रूपातीत ध्यान अमूर्त, निराकार चिन्दानन्द रूप, निरंजन सिद्ध का ध्यान है। इससे साधक ध्येय और ध्याता के भाव से परे तन्मयता प्राप्त करता है। एकीकरण और यही प्रसिद्ध समरसी भाव है। इन समस्त ध्यानों अपायविचय (ध्यान में उद्भूत राग, क्रोध, द्वेष, विषय एवं तज्जन्य दुःख आदि का चिन्तन) धर्म ध्यान कहलाता है। इस प्रकार इन चारों ध्यानों से अहं की साधना पूर्ण कर मुनि जगत के तत्त्वों का साक्षात् अनुभव ज्ञान उपलब्ध कर आत्मा की शुद्धि करता है। अपाय विचय के साथ-साथ विपाक विचय, संस्थान विचय आदि की व्याख्या की है। इन दो ग्रन्थों के अतिरिक्त द्वयाश्रय महाकाव्य में भी श्री हेमचन्द्राचार्य ने अहं के मंगलाचरण से ही महाकाव्य का प्रारम्भ किया है। वह इस प्रकार है—

अहं मित्यक्षरं ब्रह्म वाचकं परमेष्ठिनः

सिद्ध चक्रस्य सद्वीजं सर्वतः प्राणिदधमहे ॥

इस मंगल पद में अहं अक्षर (बीज) ब्रह्म, परमेष्ठि का वाचक, सिद्ध चक्र का श्रेष्ठ बीज है—इसका प्रणिधान करना चाहिए। 'श्री अभयतिलकगणि ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है। अहं वर्ण समुदाय है—अ+रू+हू+अ+म। इस श्लोक में ब्रह्म से तात्पर्य अक्षर ब्रह्म से ही ग्रहीत है व ब्रह्म का अर्थ परम ज्ञान स्वरूप लिया है।

श्री जयसिंहसूरि द्वारा रचित धर्मोपदेशमाला के अन्तर्गत अहं अक्षर तत्त्व स्तव उपलब्ध है। 'अ' तत्त्व समस्त प्राणियों को अभय करता है, इसका आश्रय कंठ स्थान है। यह समस्त वर्णों में अग्रगण्य है और सभी व्यंजनों में स्वतः विद्यमान है। आकाश की भांति यह सर्वव्यापी है। 'रू' तत्त्व का स्थान मस्तक में है और यह अग्नि सदृश है। यह त्रिवर्ग धर्म, अर्थ और काम को उपलब्ध करता है—यह अत्यन्त पवित्र और मांगलिक है। 'हू' का स्थान हृदय है और सभी वर्णों के अन्त में होकर कला रहित-कला सहित रूप में महाप्राण की भांति पूजित है—यह सर्व कार्य साधक है। बिन्दु नासिका के अग्रभाग में अवस्थित है और सभी जीवों का मोक्ष प्रदाता है। 'हू' कार के शीर्ष में जल कण

की भांति वर्तुलाकार रहता है। अन्त में श्री जयसिंहसूरि ने नाद, बिन्दु, कला व लय की साधना का स्रोत भी अर्हं को बताया है (संदर्भ सिंधी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, २००५।) इस स्तव की विशेषता इसकी स्याद्वाद शैली है—यह कलारहित-कलासहित, मूर्त-अमूर्त, व्यक्त-अव्यक्त, निर्गुण-सगुण सर्वव्यापी-देशव्यापी, नित्य-अनित्य आदि है।

श्री सिंहतिलकसूरि ने श्री मन्त्रराजरहस्य के अन्तर्गत अर्हं की व्याख्या की है। उनके अनुसार 'अ' शब्द ब्रह्म का सूचक है, रेफ रत्न-त्रय का और चन्द्रकला सिद्धि पर को बताता है। बिन्दु अनाहतनाद रूपी अरिहंत है। यथा—

आद्यं हान्तं शब्दब्रह्मोर्ध्वाघो 'र' तस्त्रिरत्न युतम् ।

चन्द्र कला सिद्धि पदं बिन्दु निमोऽनाहतःसोऽर्हन् ॥

मातृकाओं के आधार पर 'अ' नाभिकमल का प्रथम वर्ण, ललाट कमल का अन्तिम वर्ण 'ह', हृदय कमल का मध्य 'म्' मिलकर अर्हं होता है। अर्हं ही आत्मा है। रेफ व रकार रत्नत्रय को प्रतिपादित करते हैं—इसी से स्वात्मा परमात्मा बन जाता है—यही अरिहंत की साक्षात् सर्व वर्णमय मूर्ति है। सुषुम्ना में इसका ध्यान सर्वांगम का ज्ञानी बनाता है। यह मन्त्रराज सभी आधि-व्याधि को नष्ट करता है। इसकी चिन्तन-पद्धति के लिए श्री मन्त्रराज रहस्य कहता है—

कनक कमल गर्भे कणिकायां निषण्णं

विगत तमसमर्हं सान्द्रचन्द्रांशुगौरम्

गगनमनुसरन्तं सचरन्तं हरित्सु

स्मर जिनपति कल्पं मन्त्रराजयतीन्द्र

इति सर्वत्रगं ध्यायनर्हमित्येक मानसः

स्वप्नेऽपि तन्मयो योगो किञ्चिदन्यत्र पश्यति ॥

हे मुनि ! अज्ञान रूपी अन्धकार रहित घन एवं चन्द्ररश्मियों जैसा गौर वर्ण कांति युक्त, साक्षात् जिनपति सदृश मन्त्रराज अर्हं सुवर्ण कमल के मध्य में आसीन है। इसी का प्रथम चिन्तन कर तत्पश्चात् वह सभी दिशाओं में संचरण कर आकाश में व्याप्त हो जाता है। अर्हं का एकाग्रचित से ध्यान एवं उसमें लीन होकर साधक स्वः में भी सर्वत्र यही देखता है। श्री रत्नचन्द्र विरचित मातृकाप्रकरण में भी अर्हं की व्याख्या मिलती है। वे कहते हैं—

आद्युपान्त्यान्तिमार्हन्तो गीश्च 'अहं' पदमास्थिताः
ज्ञान दर्शन चारित्र्य मुक्तयो भान्ति तत्रवा अर्हं ॥

इसके अनुसार 'अ' ज्ञान, 'र' दर्शन और 'ह' चारित्र्य का प्रतिपादन करता है—इस त्रिरत्न का सुफल मुक्ति है।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त भट्टारक श्री सकलकीर्ति रचित तत्त्वार्थसारदीपक के ध्यान प्रकरण में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और ध्यान का विशद विवेचन है। इसके अनुसार अहं जन्म-मृत्यु के आवागमन से मुक्त करता है और उसमें जैसे अमृत निरन्तर झरता रहता है। यह सर्व सुखों की उपलब्धि का सबल हेतु है। श्री सकल-कीर्ति ने इसके ध्यान की पद्धति का भी विवेचन किया है। उनके अनुसार सभी अवस्थाओं में अहं का निरन्तर जप करना चाहिए।

मत्वेतीदं महत्तत्त्वमहं नामोद्भवं बुधाः
विश्वकल्याणतीर्थेशं, श्रीदध्यायन्तु मुक्तये ॥
सर्वावस्थासु सर्वत्र जपन्तु वा निरन्तरम्
विशुद्धे मानसे मन्त्रं निश्चलं स्थापयन्वा ॥

इस संक्षिप्त निबन्ध में अहं का सर्वांगीण विवेचन सम्भव नहीं है। जैन दर्शनाचार्यों ने विविध रूपेण इसका माहात्म्य स्पष्ट किया है। यहाँ पर मुनि शुभचन्द्र रचित ज्ञानार्णव का भी उल्लेख करना अभीष्ट है। पदस्थध्यानप्रकरण में उन्होंने मन्त्रराज की व्याख्या की है।

अथ मन्त्र पदाधीशं सर्वं तत्त्वैकनायकम् ।
आदि मध्यान्त भेदेन स्वर व्यंजन संभवम् ॥
ऊर्ध्वाधोरेफ संसृद्धं सकल बिन्दु लांघिवतम्
अनाहत युतं तत्त्वं मन्त्रराजं प्रचक्षते । (१९१८-१९१९)

मुनि शुभचन्द्र कहते हैं कि यही तत्त्व सब मन्त्रों का अधिपति है, अद्वितीय नायक, आदि, मध्य, अन्त के भेद से स्वर-व्यंजन से उत्पन्न रेफ् से रोका गया, कला संयुक्त, बिन्दु से चिह्नित और अनाहत बीजाक्षर से युक्त है—यही मन्त्रराज है। इसे ही देवासुर नमस्कार करते हैं—यही मिथ्या ज्ञानरूप अन्धकार का नाशक है—सूर्य के सदृश ज्योति सम्पन्न और शीर्ष भाग में चंद्र रश्मियों से मण्डित दिक्

मण्डल में व्याप्त है—इसी मन्त्रराज का योगियों को ध्यान करना चाहिए। इसे ही विभिन्न आचार्य विभिन्न रूपों से कहते हैं—कुछ बुद्ध, विष्णु, ब्रह्मा, महेश्वर शिव, सार्व व ऐशान कहते हैं। इस मन्त्र रूप शरीर को ग्रहण करके ही सर्वत्र, सर्वव्यापी व शान्ति जिनदेव ही साक्षात् अवस्थित हैं। इससे संसार परिभ्रमण समाप्त हो जाता है।

इस पदस्थ ध्यान दृष्टि की भी ज्ञानार्णव में योग-साधना के निमित्त प्रक्रिया बताई है। तत्पश्चात् प्रणव से इसे समायोजित कर इसका विवेचन किया गया है। मुनि शुभचन्द्र ने इसी प्रकरण में अनेक मन्त्रों का भी उल्लेख किया है। यहाँ केवल दो का निर्देश करना समीचीन है : सप्ताक्षरी मन्त्र 'ॐ' श्रीं ह्रीं 'अर्हं नमः' के सम्बन्ध में मुनि श्री का कथन है :

सकल ज्ञान साम्राज्य दान दक्षं विचिन्तय ।
मन्त्रं जगत्त्रयी नाथं चूडारत्न कृतास्पदम् ॥
ओं श्रीं ह्रीं अर्हं नमः ।

यह मन्त्र केवल ज्ञान का वैभव देने में समर्थ है। इसी प्रकार 'ॐ' नमोऽर्हन्ते केवलिने परम योगिने विस्फुरदुरुशुक्ल ध्यानाग्नि निर्दग्ध कर्मबीजाय प्राप्तानन्त चतुष्टाय सौम्याय शान्ताय मंगल वरदाय अष्टादशदोष-रहिताय स्वाहा'—यह मन्त्र प्राणियों को निर्भय-अभय कर कष्ट समूह का नाशक है। आगे चलकर वे पुनः 'ॐ' अर्हन्मुख कमलवासिनि पापात्मक्षयंकरि श्रुतुज्ञान ज्वाला सहस्र प्रज्वलिते सरस्वति मत पापं हन हन दह दह क्षौं क्षीं क्षूं क्षे क्षौक्षः क्षीर वरधवलेऽमृत । सम्भवे वं हूं हूं स्वाहा पापभक्षिणी, सरस्वती का मन्त्र है।

वर्तमान समय में युवाचार्य महाप्रज्ञ ने अर्हं की व्याख्या करते हुए अपने ग्रन्थ अर्हम् में लिखा है—'अर्हं विद्यमान शक्तियों को बढ़ाने का मन्त्र है। हम इस मन्त्र के माध्यम से प्राण शक्ति का अनुभव करें कि हम कमजोर नहीं हैं—हम दीनहीन नहीं हैं, हम शक्ति सम्पन्न हैं और अपनी शक्ति का उपयोग प्रत्येक क्षेत्र में कर सकते हैं। पहली बात है अर्हता का बोध होना, अर्हता का अनुभव होना। मानव शरीर में अर्हता के कुछ केन्द्र हैं—उनमें सबसे बड़ा है मस्तिष्क। अर्हम् हमें निश्चय पर पहुँचाता है—निश्चय पर पहुँचने में सहयोग करता है।' युवाचार्य महाप्रज्ञ ने अर्हम् के उच्चारण की भी मीमांसा की है। 'अ'

का कंठ से, 'र' का मूर्धा से 'ह' का पुनः कण्ठ से और म का ओष्ठ्य से उच्चारण होता है, 'वे आगे कहते हैं कि अर्हं भगवान् महावीर का प्रतीक है—आनन्द केन्द्र थाइमस ग्रन्थि का प्रभाव क्षेत्र है—अर्हं उसको जाग्रत करता है। उनके अनुसार अर्हं से इष्ट की स्मृति, आनन्द की जाग्रति, मानसिक तनाव से मुक्ति, आधि-व्याधि से सुरक्षा और विकल्प शांत होते हैं—चैतन्य केन्द्र सजग होते हैं। इस प्रकार 'अ' कुंडलिनी का, 'र' अग्निबीज (कुसंस्कारों को भस्म करने वाला), 'ह' आकाश बीज और 'म' झंकार है। हं से चिदाकाश का अनुभव और 'म' से ज्ञान तन्तु सक्रिय होते हैं। युवाचार्य ने प्रेक्षाध्यान में तैजस् केन्द्र के स्वर्णिम कमल के मध्य अर्हं की कल्पना, एवं उसकी अनुभूति की पद्धति बतायी है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर सहजता से पहुँचते हैं कि अर्हं जैन साधना का सर्वोत्तम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मन्त्र है। इसके विविध पक्ष प्राप्त होते हैं। प्राचीन सप्ताक्षरी मन्त्र 'ऊँ' 'ह्रीं' 'श्रीं' अर्हं नमः, इसी का मन्त्र है। नवाक्षरी मन्त्र भी यही है 'ऊँ' ह्रीं अर्हम् नमः क्षीः स्वाहा। इसी प्रकार ऊँ ह्रीं श्री अर्हम् अ-सि-आ-उ-सा नमः' में श्री अर्हं ही प्रमुख है। और भी अनेक हैं। इसके साथ-साथ जैन साधना पद्धति के कूट-अकूट मन्त्रों और बीजाक्षरों में अन्य दर्शनों से समानता पायी जाती है। इस समान दृष्टि का आयाम भारतीय चिन्तन धारा की समरूपता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैनाचार्यों ने जिस उदारता से अर्हं की विष्णु, ब्रह्मा और शिव सापेक्ष व्याख्या की है—वह इसका साक्ष्य है। बौद्ध धर्म साधना के परिप्रेक्ष्य में भी समस्त बीजाक्षरों का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है, इसके आधार पर हम भारतीय संस्कृति की सतत् प्रवहमान धारा का अवलोकन कर सकेंगे। तृतीय दृष्टि से योग-साधना में नव चक्र, रन्ध्र-विन्यास और इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का निरूपण भी तत्त्वतः कुछ समानता रखता है यह सही है कि इसमें विभिन्न जैन आचार्यों ने अपनी विशिष्ट और भिन्न दृष्टि अपनायी है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि ओऽम का विश्लेषण विवेचन भारतीय दार्शनिक चिन्तन की मूलभूत समरूपता का निदर्शन कराता है। पंचपरमेष्ठि की व्याख्याएं इसका प्रमाण हैं। समय आ गया है कि हम संतुलित और सम्यक् दृष्टि से इस महत्त्वपूर्ण

विषय पर ध्यान दें ।

आधार ग्रन्थ—

१. योगसूत्र : श्री हेमचन्द्राचार्य । २. श्री सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासनम् ।
३. नमस्कार स्वाध्याय (संस्कृत विभाग) । ४. अर्हम्—युवाचार्य महाप्रज्ञ ।
५. आचार्य महावीर कीर्ति स्मृति ग्रन्थ । ६. ज्ञानार्णव ।



प्राकृत व्याकरण : वररुचि बनाम हेमचन्द्र अन्धानुकरण या विशिष्ट प्रदान

—के० आर० चन्द्र

वररुचि प्राकृत भाषा के आदि व्याकरणकार माने जाते हैं क्योंकि प्राकृत का अन्य कोई व्याकरण अभी तक मिला ही नहीं है। उनके पश्चात् चण्ड का क्रम आता है तत्पश्चात् आ० हेमचन्द्र का। इन दोनों पूर्ववर्ती व्याकरणकारों से हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण बहुत विशाल है और उसमें सामान्य प्राकृत यानि महाराष्ट्री प्राकृत के अलावा अन्य प्राकृत भाषाओं का व्याकरण भी है। वररुचि के प्राकृत-प्रकाश में सामान्य प्राकृत के नौ परिच्छेद हैं और पैशाची, मागधी तथा शौरसेनी के तीन परिच्छेद प्रक्षिप्त माने गये हैं। आ० हेमचन्द्र के व्याकरण में चूलिका पैशाची का भी समावेश है और वृत्ति में अर्धमागधी के लक्षण भी दिये गये हैं। अपभ्रंश भाषा के विषय में उनका जो प्रदान है वह तो अद्वितीय है ही।

इस निबंध में सभी प्राकृत भाषाओं की चर्चा न करके मात्र महाराष्ट्री प्राकृत अर्थात् सामान्य प्राकृत की ही मुख्यतः चर्चा की जा रही है। वररुचि और हेमचन्द्र के व्याकरणग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती से बहुत कुछ लिया है और बहुत कुछ नया भी दिया है। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण में किसी भी पूर्ववर्ती व्याकरण-कार के नाम का कोई उल्लेख नहीं किया है परन्तु कई स्थलों पर कश्चित् केचित् अन्ये इत्यादि का उल्लेख करके परोक्ष रूप में उनका स्मरण अवश्य किया है।

कोई भी शास्त्रकार अपने पूर्ववर्ती शास्त्रकारों की रचनाओं का उपयोग करके आगे बढ़ता है, उसी प्रकार आ० हेमचन्द्र ने भी वररुचि से बहुत कुछ लिया है परन्तु साथ ही साथ उनकी टीका किये बिना

अपनी तरफ से बहुत कुछ सामग्री जोड़ी है। भाषा में जो नवीनता आई उस सम्बन्ध में भी कुछ सामग्री जोड़ी गयी है। इसको ध्यान में रखकर ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा कि हेमचन्द्र का व्याकरण समय और क्षेत्र की दृष्टि से विशाल है जबकि वररुचि का व्याकरण दोनों ही तरह से सीमित है। ऐसा लगता है कि वररुचि किसी क्षेत्र विशेष और समय-विशेष की प्राकृत भाषा का व्याकरण दे रहे हैं जबकि हेमचन्द्र का व्याकरण व्यापक और विशाल है।

इन सब पक्षों का सूक्ष्मता पूर्वक अध्ययन करना उपादेय माना जायेगा और ऐसा गहन अध्ययन होना भी चाहिए परन्तु यहाँ पर कुछ ही पक्षों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे हमें भविष्य के संशोधन के लिए एक क्षेत्र मिल जाय, एक दृष्टि मिल जाय और आ० हेमचन्द्र का प्रदान कितना महत्त्वपूर्ण है इसकी भी कुछ झलक मिल जाय। प्राकृत व्याकरण के नियमों सम्बन्धी व्यवस्था और अमुक-अमुक प्रवृत्ति के विषय में नियमों की न्यूनता की दृष्टि से वररुचि और हेमचन्द्र के बीच में कितना अन्तर है यह निम्न विवरण से स्पष्ट होता है।

वररुचि के प्राकृत प्रकाश में (I. 2-17.) एक स्वर के बदले में दूसरे स्वर के प्रयोग का क्रम इस प्रकार दिया गया है—

अकार के परिवर्तन—आ, इ, लोप ए और ओ (सूत्र नं० १ से ९) इनमें अ का लोप बीच में रखने से अव्यवस्थित सा लगता है। जबकि हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में परिवर्तन का क्रम इस प्रकार है—

- (i) मात्र अ=आ, अन्य कोई परिवर्तन नहीं (I.44)
- (ii) संयुक्त में से एक व्यंजन का लोप और उससे पूर्व के ह्रस्व स्वर का दीर्घ बनना (अ=आ, I.45)
- (iii) अ=इ, शब्द के प्रारम्भिक वर्ण में (I. 46)
- (iv) अ=इ, वैकल्पिक परिवर्तन के उदाहरण (I. 47)
- (v) अ=इ, शब्द के द्वितीय वर्ण में परिवर्तन (I. 48)
- (vi) अ=इ, द्वितीय वर्ण में वैकल्पिक परिवर्तन (I. 49)
- (vii) अ के ऐसे अनेक परिवर्तनों के अन्त में शब्द के प्रारम्भिक अ का लोप दिया गया है (I.66) जो वररुचि की तरह नियमित लोप

नहीं है (लोपोऽरण्ये 1.4) परन्तु वैकल्पिक लोप कहा गया है । हेमचन्द्र का सूत्र है—

‘वा अलावु अरण्ये लुक्’ 8. 1. 66 उदाहरणों में रण्ण और अरण्ण दोनों शब्द दिये गये हैं । अरण्ण शब्द के प्रयोग सप्तशती, गौडवहो, शाकुन्तलम् इत्यादि में भी मिलते हैं (पिशल —142) । इन उदाहरणों से हेमचन्द्र के नियम की पुष्टि होती है । अकार के इकार में होने वाले परिवर्तन को समझाते समय वररुचि ने मात्र एक ही सूत्र (1.3) दिया है जबकि आ० हेमचन्द्र ने पाँच सूत्र (1.46-50) दिये हैं । वररुचि द्वारा इस सूत्र में दिये गये सभी शब्द हेमचन्द्र ने दिये हैं परन्तु उन्हें अलग-अलग सूत्रों में समझाये हैं अतः कुछ विद्वानों द्वारा ऐसा कहना कि हेमचन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती की सामग्री चुराई है सो उचित ही लगता है । परन्तु यह आक्षेप ऊपर-ऊपर से ही योग्य लगता है । तथ्य की गहराई में प्रवेश किया जाय तो यह आक्षेप गलत सिद्ध होता है और वररुचि का व्याकरण हेमचन्द्र के व्याकरण के सामने प्रारम्भिक प्रयत्न करने के समान प्रतीत होता है ।

कहना पड़ेगा कि अवश्य ही हेमचन्द्र ने वररुचि की सामग्री का उपयोग किया है परन्तु उन्होंने प्राकृत-प्रकाश में दिये गये शब्दों के अलावा दस शब्द (व्यलीक, कृपण, उत्तम, मरिच, दत्त, ललाट, मध्यम, कलम, सप्तपर्ण और मयट् प्रत्यय) और जोड़े हैं । इतना ही नहीं परन्तु उनके हरेक सूत्र में कुछ न कुछ विशेषता है । सूत्र 8. 1. 46 में आदि अ का अवैकल्पिक इ और सूत्र 8. 1. 47 में आदि अ का विकल्प से इ होना समझाया है । सूत्र 8.1.48 में शब्द में आने वाले द्वितीय अ का इ (कतम = कइम, मध्यम = मज्जिम) और सूत्र 8.1.49 में द्वितीय अ का वैकल्पिक इ होना समझाया गया (सप्तपर्ण-छत्तिवण्ण, छत्तवण्ण) है । अन्त में सूत्र नं० 8.1.50 एक प्रत्यय के बारे में है जिसके अनुसार मयट् प्रत्यय का विकल्प से मअ और मइअ (विसमइअ, विसमअ) हो जाता है । इससे स्पष्ट है कि हेमचन्द्र के हरेक सूत्र में कुछ न कुछ नवीनता है । हेमचन्द्र द्वारा अलग से दिये गये वैकल्पिक परिवर्तन वाले शब्द प्राचीन जैनेतर साहित्य में भी मिलते हैं—छत्तवण्ण (शाकुन्तलम्), पक्व = पक्क और अङ्गार = अंगाल के लिए आगे देखिए जिनके लिए पक्क और अंगाल शब्द भी मिलते हैं ।

अकार का एकार सम्बन्धी परिवर्तन समझाते हुए प्राकृत प्रकाश में सूत्र है—‘ए शय्यादिषु I.5’। इस सूत्र की वृत्ति में जितने शब्द दिये गये हैं वे सभी शब्द आ० हेमचन्द्र ने सूत्र नं० I.57 और 58 में दिये हैं, परन्तु सूत्र नं० 58 में इनमें से उन शब्दों का समावेश है जिनमें वैकल्पिक परिवर्तन होना है। इतना ही नहीं कि सूत्र नं० 58 में आश्चर्य के लिए वररुचि की तरह मात्र अच्छोर शब्द का ही उदाहरण दिया हो परन्तु उसके साथ अनेक अन्य प्रयोग (अच्छरिअ, अच्छर, अच्छरिज्जं और अच्छरीअं) भी दिये हैं जो हेमचन्द्र के व्याकरण की विपुलता, विशालता और उनका सूक्ष्म अवलोकन का दर्शन कराते हैं। इसके अलावा सूत्र नं 57 में कन्दुक=गेन्दुअ और अत्र=एत्थ को और जोड़ा गया है। सूत्र नं 59 और 64 इसी प्रकार के परिवर्तन के सम्बन्ध में दिये गये हैं जिन्हें हम परिवर्तन के रूप में ले सकते हैं। उदाहरण है ब्रह्मचर्य=बम्हचेर और अन्तः=अन्ते (अन्तःपुर=अन्तेउर)। यहाँ पर भी स्पष्ट कहा गया है कि ‘क्वचित् न भवति’ और उदाहरण दिये गये हैं—अन्तगगयं और अन्तोवीसम्भ—निवेसिआणं। इस तरह हेमचन्द्र का कितना सूक्ष्म और विशाल अवलोकन रहा है यही साबित होता है। अनेक सूत्रों की वृत्ति में आर्ष यानि अर्धमागधी की जो विशेषताएँ बतलायी हैं वह तो एक विशिष्ट मुद्दा है ही, जैसे यहाँ पर सूत्र नं 57 की वृत्ति में कहा गया है ‘आर्षे पुरेकम्मं’। प्राकृत-प्रकाश में दिये गये शब्दों के सिवाय हेमचन्द्र ने जो अधिक शब्द विकल्प से दिये गये हैं वे जैनेतर साहित्य में भी मिलते हैं—अच्छरिअ (गौडवहो), इसी शब्द को बाद में प्राकृत-प्रकाश में शौरसेनी भाषा में (XII-30) दिया गया है।

वररुचि के प्रा० प्र० में I. 2 सूत्र के अनुसार होने वाले वैकल्पिक प्रयोगों का निषेध करते हुए सूत्र नं I. 3 की वृत्ति में (वेति निवृत्तम्) पक्व के लिए पिक्क और अङ्गार के लिए इंगाल यानि अ का इ में नियमित परिवर्तन बताया है जो उचित प्रतीत नहीं होता। हेमचन्द्र के अनुसार (8.1.47) विकल्प से पक्क और अंगाल भी होता है। उनका सूत्र है—

‘पक्वाङ्गार ललाटे वा’ अर्थात् इन शब्दों में अ का इ विकल्प से होता है। महाराष्ट्री प्राकृत में ही ऐसे उदाहरण मिलते हैं—पक्कगाह

(सेतुबन्धम्—पा० स० म०) अंगारअ (गाथा सप्तशती) अंगाराअन्त (गौडवहो)—देखिए पिशल। प्राकृत प्रकाश में (सूत्र नं० 12 से 17) इकार सम्बन्धी परिवर्तनों में भी इसी प्रकार की अव्यवस्था पायी जाती है। परिवर्तन का क्रम है—इ=ए, अ, उ ओ अथवा उ और ई।

वररुचि के सूत्र नं 1.35 के अनुसार कैलाश का केलास (ऐ=ए) और सूत्र 36 के अनुसार भैरव का भइरव (ऐ=अइ) होता है परन्तु इन दोनों शब्दों के लिए हेमचन्द्र के अनुसार ये परिवर्तन वैकल्पिक बतलाये गये हैं और के लास तथा भेरव शब्दों के प्रयोग भी मान्य रखे हैं। इसी प्रकार वइर (वैर) चइत्त (चैत्र) के बदले में वैकल्पिक वेर और चेत्त भी होते हैं जो वररुचि के सूत्रों के अनुसार निषिद्ध से लगते हैं जबकि हेमचन्द्र का इन वैकल्पिक परिवर्तनों के लिए स्पष्ट सूत्र है—‘वैरादौ वा’ 8.1.152 अर्थात् ऐ का ए और अइ दोनों में परिवर्तन होता है। पिशल द्वारा दिये गये उदाहरण भी हेमचन्द्र की पुष्टि करते हैं—कइलास, वेर (सेतुबन्धम्), चेत्त (कर्पूरमञ्जरी)। प्राकृत-प्रकाश के अनुसार (1.17) सिंह शब्द में इ का ई (सीह) होता है। परन्तु हेमचन्द्र का कहना है कि कभी-कभी सिंह भी चलता है (बहुलाधिकारात् क्वचित् न भवति 8.1.92) और सिंह शब्द के प्रयोग गाथासप्तशती, सेतुबन्धम्, शाकुन्तलम् गौडवहो इत्यादि में भी मिलते हैं (पिशल)।

प्राकृत भाषा की एक मुख्य प्रवृत्ति यह रही है कि संयुक्त व्यंजन के पूर्व में आने वाले दीर्घ स्वर को ह्रस्व में बदल दिया जाता है। इस नियम का वररुचि के प्राकृत-प्रकाश में उल्लेख ही नहीं है जबकि हेमचन्द्र ने इसके लिए एक अलग ही सूत्र (ह्रस्वः संयोगे 8.1.84) दिया है। चण्ड के प्राकृतलक्षणम् 2.6 (ह्रस्वत्वं संयोगे) में भी ऐसा ही सूत्र है।

प्राकृत-प्रकाश के परिच्छेद नं० 11 में मागधी भाषा के एक मुख्य लक्षण र=ल का सूत्र ही नहीं मिलता है जबकि हेमचन्द्र के व्याकरण में इसका स्पष्ट उल्लेख है (8.4.288 रसोर्लशौ)। हाँ, इतना अवश्य है कि इस अध्याय में अन्य सूत्रों को समझाते समय जो उदाहरण भामह की वृत्ति में हैं उनमें अनेक शब्दों में र के स्थान पर ल मिलता है। अतः हो सकता है कि र=ल का सूत्र ही लुप्त हो गया हो।

ध्वनि-परिवर्तन के विषय में ही ये न्यूनताएँ और अव्यवस्थाएँ हों ऐसी बात नहीं है विभक्तियों और प्रत्ययों के विषय में भी इसी प्रकार के दोष प्राकृत-प्रकाश में मिलते हैं। प्राकृत-प्रकाश में, पंचमी एक-वचन के लिए चार विभक्तियाँ (इसेरादोदुहयः 5-6) दी गयी हैं— आ, दो, दु और हि (वच्छा, वच्छादो, वच्छादु, वच्छाहि)। परन्तु ओ और उ (वच्छाओ, वच्छाउ) विभक्तियाँ नहीं दी गयी हैं। यदि ऐसा माना जाय कि मध्यवर्ती तथा द का लोप होने से ये विभक्तियाँ स्वतः सिद्ध हो जाती हैं तो यह कथन उचित नहीं ठहरता क्योंकि तृ० पु० एकवचन के वर्तमान काल के इ और ए प्रत्यय (ततिपोरिदेतौ 7.1) देने की क्या आवश्यकता थी वे तो लोप से स्वतः सिद्ध ही थे (पठति, पठते=पठइ, पठए)। इस विषय में हेमचन्द्र का सूत्र व्यवस्थित और सर्वाङ्गीण लगता है (इ से स तो-दो-दु-हि-हिन्तो-लुकः 8 3.5) जिसमें लुक् के आदेश से ओ, उ, का समावेश हो जाता है और वृत्ति में उल्लेख है कि भाषान्तर में द-कार होता है (दकारकरणं भाषान्तरार्थम्)। वररुचि ने जो विभक्तियाँ नहीं दी हैं उसे हेमचन्द्र ने दी हैं ऐसी। विभक्तियों वाले रूप जैनेतर साहित्य में भी मिलते हैं— पच्छाओ (सेतुबन्धम्) रण्णाउ, णहअलाउ, हिअआहिन्तो (सप्तशती), सीसाउ (गौडवहो)। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वररुचि के व्याकरण का क्षेत्र सीमित है जबकि हेमचन्द्र का क्षेत्र व्यापक है।

प्राकृत-प्रकाश में तृतीया एक वचन की अकारान्त (पु.नपुं) शब्दों के लिए मात्र एण (टामोर्णः 5 4) विभक्ति, तृ. ब. व. के लिए मात्र हि (भिसोहिं 5-5) विभक्ति और सप्तमी ब. व. के लिए मात्र सु (सुपः सुः 5.10) विभक्ति दी गयी हैं। हेमचन्द्र ने एण और सु विभक्तियाँ अनुस्वार युक्त होने का भी स्पष्ट (सूत्र 8.1.27) उल्लेख किया है (वच्छेणं, वच्छेण, वच्छोसुं, वच्छेसु) और तृ. ब. व. के लिए हि के अलावा हि और हिं का आदेश दिया है (8.3.7)। पिशल द्वारा (182,72,371) जैनेतर साहित्य की महाराष्ट्री भाषा से जो उदाहरण दिये गये हैं वे हेमचन्द्र की पुष्टि करते हैं और प्राकृत-प्रकाश की मर्यादाओं की तरफ अप्रत्यक्ष रूप में संकेत करते हैं। निम्न उदाहरण देखिए—

- (i) तृ० ए० व०—सब्भावेणं, लोअणेणं (सप्तशती), असेणं (सेतुबन्धम्), यञ्जरेणं (गौडवहो)

(ii) तृ० ब० व०--अवहृत्थिअसवभावेहि (सप्तशती),
छिण्णाअवमण्डलेहि (सेतुबन्धम्)
अमूललहुएहि (गौडवहो)

(iii) स० ब० व०—वणेषु (सप्तशती) इस प्रत्यय के प्रयोग शाकुन्तलम् और विक्रमोर्वशीयम् में भी मिलते हैं ।

इन सब साक्ष्यों के आधार से ऐसा कहा जा सकता है कि वररुचि का प्राकृत-प्रकाश (सूत्र एवं भामह की वृत्ति) महाराष्ट्री प्राकृत-भाषा का व्याकरण भी उचित रूप में प्रस्तुत नहीं कर रहा है। इससे हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण की महिमा और भी बढ़ जाती है यह निस्संकोच कहा जा सकता है।

इस प्रसंग में और भी मुद्दों पर चर्चे किये जा सकते हैं परन्तु निबन्ध का विस्तार बहुत बढ़ जाने के भय से एक-दो बातों को संक्षेप में कह देना उचित होगा। इनकी विस्तार पूर्वक चर्चा और कहीं पर अवश्य की जाएगी।

वररुचि के अनुसार मध्यवर्ती अल्पप्राण व्यंजनों का लोप होने पर उद्धृत स्वर सभी जगह वैसा का वैसा बना रहता है और जैनेतर साहित्यकारों ने भी यही पद्धति अपनायी है। हेमचन्द्र के अनुसार अमुक परिस्थितियों में उद्धृत अ और आ प्रायः 'य' श्रुति में बदल जाते हैं और जैन लेखकों की भी यही पद्धति रही है। इन दोनों में से कौन कितना सही है? जन-भाषा यदि प्रमाणभूत हो तो देखिए तीसरी शताब्दी ई० पूर्व से चौथी शताब्दी तक के प्राकृत शिलालेख जिनमें 'य' श्रुति के सारे भारत में कितने ही उदाहरण मिलते हैं। यही प्रवृत्ति आधुनिक भाषाओं में भी यत्र तत्र देखने को मिलती है।

उदाहरणार्थ—

संस्कृत	गुजराती	हिन्दी	संस्कृत	गुजराती
कातर	कायर	कायर	मात्रगृह	मायर
धनपतराज	धनपतराय	धनपतराय	गतः	गयो
अमृत	अमी (अमिय) (अमिइ)	अमिय	वचन	} वेण (वइण)
पितृगृह	पियर	पियर	वचण	

कर्मणिभूत- गया, किया, दिया, पिया, कृत = करित = कर्तुं, भर्तुं
 कृदन्त के खाया, (करिय, कर्य आदि से)
 हिन्दी के रूप

इन रूपों के बदले में 'य' श्रुति रहित उद्धृत स्वर वाले काअर, माअर, गओ, गआ, खाआ, कउँ, भउँ की कल्पना भी की जा सकती है क्या ?

वररुचि के अनुसार प्रारम्भिक और मध्यवर्ती न-कार का ण-कार हो जाता है। हेमचन्द्र के अनुसार प्रारम्भिक न-कार का ण-कार वैकल्पिक है और मध्यवर्ती न-कार का ण-कार भी सर्वत्र नहीं होता है। हेमचन्द्र ने सामान्य प्राकृत भाषा में जो-जो उदाहरण दिये हैं उनमें प्रारम्भ में नौ में से सिर्फ एक ही न-कार का ण-कार मिलता है यहाँ तक कि अपभ्रंश भाषा के उदाहरणों में भी प्रारम्भ का न-कार प्रायः न-कार ही रहता है।

भारत भर में फैले प्राकृत शिलालेखों का अध्ययन किया जाय तो विदित होगा कि न-कार का ण-कार बनने की प्रवृत्ति दक्षिण भारत से अन्य भागों में धीरे-धीरे फैली है और वह भी वररुचि के नियम के अनुसार प्रारम्भिक और मध्यवर्ती न-कार में सर्वत्र और सदा के लिए नहीं।

प्राकृत भाषाओं में से विकसित हमारी आधुनिक भाषाओं के प्राचीन या आधुनिक साहित्य में या वर्तमान में बोली जाने वाली भाषाओं में कितने ऐसे शब्द परम्परा से चले आये हैं जिनमें प्रारम्भ या मध्य में न का ण मिलता हो यह एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन का विषय है।

इस अध्ययन के आधार से क्या ऐसा नहीं लगता कि किसी व्याकरणकार के क्षेत्रीय नियम ने सारे प्राकृत साहित्य को कृत्रिम और वास्तविकता रहित बना दिया। भाषा की एकरूपता के मोह में फँसकर कभी-कभी हम और हमारे साहित्यकार वास्तविकता से कितने दूर चले जाते हैं यह इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

इस संक्षिप्त परंतु तथ्यात्मक अध्ययन के बल पर ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा कि प्राचीन प्राकृत साहित्य का चाहे वह अर्धमागधी

आगम साहित्य हो, चाहे संस्कृत-प्राकृतरूपक साहित्य हो, चाहे प्राकृत काव्य साहित्य हो उन सब का पुनः सम्पादन किया जाना चाहिए। इसमें भी गाथासप्तशती, सेतुबन्धम् का खास करके और जो भी जहाँ से भी हस्तप्रतें मिलती हैं उनमें जो भी वर्ण-व्यवस्था जहाँ पर भी प्राचीन लगती हो उसे ही अपनायी जानी चाहिए और परवर्तीकाल की प्रवृत्ति को एकरूपता देने के बदले प्राचीन प्रवृत्ति को एकरूपता दी जानी चाहिए। यह कार्य अवश्य ही भारी और जटिल है और बहुत अधिक श्रमशील है परंतु साहस और धैर्य के साथ करने की आवश्यकता है। आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण का इस प्रकार का समीक्षात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन करने पर जो सार निकला है उसके सहारे क्या ऐसा कहा जा सकता है कि उन्होंने अन्धानुकरण किया है और उनका दिमाग ठिकाने नहीं था जैसा कि एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है।

यदि कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि वररुचि का व्याकरण भारत भर की प्राकृत का व्याकरण नहीं है परंतु उनके ही क्षेत्र की प्राकृत की एक बोली का व्याकरण है जबकि हेमचन्द्र का व्याकरण भारत के विशाल प्रदेश की विशाल प्राकृत भाषा का व्याकरण है।

इसी प्रसंग में एक और बात कहना चाहूँगा वह यह कि सभी पाश्चात्य विद्वानों को एक समान हमारे गुरु या साहित्योद्धारक मानने की परंपरा उचित नहीं है। सूक्ष्म अध्ययन और परीक्षण हमारे अध्ययन का मुद्दा होना चाहिए न कि मात्र अंधभक्ति या भावनात्मक सम्मान की दृष्टि।



अध्यक्ष
प्राकृत-पालि विभाग
भाषा साहित्य भवन
गुजरात युनिवर्सिटी,
अहमदाबाद-३८०००८

वसन्तविलासकार बालचन्द्रसूरि : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

—डॉ. यदुनाथ प्रसाद दुबे

पुराण, दर्शन, नाटक, खण्डकाव्य, प्रबन्धकाव्य, चम्पूकाव्य एवं विपुल स्तोत्र-साहित्यादि नानाविधात्मक काव्य-विधाओं के अतिरिक्त श्री तथा भगवती सरस्वती-दोनों के कृपापात्र, नरनारायणानन्द महाकाव्य के प्रणेता, गुर्जर धरित्री के चौलुक्यवंशीयनृपति वीरधवल के शासन-काल के अप्रतिम प्रतिबिम्ब, सोमेश्वरकृत “कीर्तिकौमुदी”, अरिसिंह प्रणीत “सुकृतसंकीर्तन” आदि काव्यों में वर्णित प्रशस्तियों, तीर्थयात्राओं, धार्मिक तथा लोकोपकारी कृत्यों से अर्जित, दिग्दिगन्त-श्रूयन्त यशः वैजयन्ती से समलङ्कृत, लोकविश्रुत महामात्य वस्तुपाल के चरितनायकत्व से प्रसिद्ध वसन्तविलास नामक महाकाव्य श्रेष्ठतर है।

जैन-साहित्य में बालचन्द्रसूरि से मिलते-जुलते कई अन्य नाम भी प्राप्त होते हैं। जैन शिलालेखों में “बालचन्द्र” नामक एक जैनमुनि का बहुशः उल्लेख किया गया है जो “बालचन्द्रपण्डित देव” के नाम से प्रसिद्ध थे। वृत्ति एवं काव्य-कला में प्रवीण इन्होंने “सारचतुष्टय” एवं अन्य ग्रन्थों की टीका की थी^१। हुम्मच कन्नड, पद्मावती मन्दिर के प्राङ्गण में पाषाण पर इनकी प्रशंसा इस प्रकार उत्कीर्ण है—

‘कवित्वे गमकित्वे च वादित्वे, वाग्मिता-जपे।

त्रैविद्य-बालचन्द्रस्य सदृशो नास्ति इह नास्ति इह^२ ॥

इनका सम्बन्ध दिग्म्बर जैन सम्प्रदाय से था। हेलीबीड, शक १२२२ (१३०० ई०) के वस्तिहल्ल में दूसरी प्रतिमा-पाषाण पर उल्लि-

१. जैनशिलालेख-संग्रह (संग्रहकर्ता, पं० विजयमूर्ति), भाग ३, लेख संख्या ५१४, पृ० ३६६

२. वही, लेख संख्या ५००, पृ० ३५०

खित लेख से इनका परिचय प्राप्त होता है^१। प्रथम प्रतिमा-पाषाण पर उल्लिखित लेख में बालचन्द्र-पण्डितदेव के दीक्षागुरु नेमिचन्द्र भट्टारक तथा ऋतुगुरु-अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का वर्णन है^२। जैन शिलालेखों में बालचन्द्र को जैन-धर्म का विस्तार करने वाला कहा गया है—

श्रीमन्मान्य-भयेन्द्रयोगिविबुध-प्रख्यात-सत्-सूनुना ।

बालेन्दु-व्रतिपेन तेन लसति श्री जैन धर्म्मोऽधुना^३ ॥

बालचन्द्र पण्डितदेव का कविजन भी समादर करते थे—

तं बालचन्द्र-मुनि-पण्डित देवमस्मिन् ।

लोके स्तुवन्ति कवयः परमादरेण^४” ॥

बालचन्द्र-पण्डित देव की मृत्यु, शक सं० ११९७ में समाधि-मरण द्वारा भाद्रपद द्वादशी बुधवार को मध्याह्नकाल में हुई थी^५।

हेमचन्द्राचार्य की शिष्य-परम्परा के अन्तर्गत “बालचन्द्रगणि” का नाम भी इस सन्दर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने “स्नातास्था” नामक काव्य का प्रणयन किया था^६।

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि वसन्तविलास महाकाव्य के रचयिता बालचन्द्रसूरि और जैन मुनि बालचन्द्र पण्डित-देव एक दूसरे से भिन्न थे। यद्यपि बालचन्द्र पण्डितदेव ने भी साहित्य-जगत् में पदार्पण किया था, किन्तु वसन्तविलास महाकाव्य से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। इस सम्बन्ध में अन्य प्रमाण भी प्राप्त नहीं होते हैं। इसी प्रकार बालचन्द्रगणि का समय भी बालचन्द्रसूरि से बहुत पहले का है। सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल की कई पीढ़ियों

१. वही, भाग-३, लेख संख्या ५३८, पृ० ३८५-८६

२. वही, लेख संख्या ५२४, पृ० ३७१

३. वही, लेख संख्या ५१४, पृ० ३६४

४. वही, लेख संख्या ५१४, पृ० ३६५

५. वही, लेख संख्या ५१४, पृ० ३६४ “श्रीमद्बालचन्द्रपण्डितदेवरू सकवर्षे ११९७ नेयभावसंवत्सरद भाद्रपद-शुद्ध १२ बुधवारद मध्याह्नकालदोल्लयमगे समाधियन्दु... ।

६. आचार्य हेमचन्द्र (डॉ० वि० भा० मुसलगांवकर) पृ० १९३

के बाद राजा वीरधवल का शासन-काल आता है, जिसका महामात्य वस्तुपाल था ।

निष्कर्षतः, प्रस्तुत महाकाव्य के रचयिता बालचन्द्रसूरि ही हैं । स्वयं कवि ने ही ग्रन्थ के सर्गान्त में दी गयी पुष्पिकाओं में अपने को वसन्तविलास महाकाव्य का प्रणेता घोषित किया है^१ । डॉ० नेमिचन्द्रशास्त्री^२, डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी^३ एवं श्यामशंकर दीक्षित^४, प्रभृति विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थों में बालचन्द्रसूरि को ही वसन्तविलास महाकाव्य का रचयिता माना है, न कि बालचन्द्र पण्डितदेव एवं बालचन्द्रगणि को । अतएव यह निर्विवाद सत्य है कि जैन-साहित्य का अतिलोकप्रिय महाकाव्य वसन्तविलास प्रसिद्ध जैनाचार्य बालचन्द्रसूरि की ही एक अमरकृति है ।

काल निर्धारण—

वसन्तविलास महाकाव्य में कवि ने ग्रन्थ के रचनाकाल तथा अपने समय का किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं किया है । महाकाव्य के रचनाकाल के सम्बन्ध में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है । अतएव रचनाकाल-निर्धारण करने से पूर्व, कलि-काल पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है ।

प्रबन्धचिन्तामणि से ज्ञात होता है कि बालचन्द्रसूरि वस्तुपाल के समसामयिक कवि थे^५ । उन्होंने वस्तुपाल के जीवन में ही काव्य रचना में कुशलता प्राप्त कर ली थी^६ । सी०डी० दलाल के अनुसार वस्तुपाल की संघयात्रा के समय शत्रुञ्जय पर्वत पर यात्रियों के मनोविनोद के लिए आदिनाथ के मन्दिर में बालचन्द्रसूरिकृत “करुणावज्रा-

१. वसन्तविलास, प्रथम सर्ग, प्रस्तावना, पृ० ६ “इति सिद्धसारस्वताचार्य श्री बालचन्द्रविरचिते वसन्तविलासनामनि महाकाव्ये—।
२. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ० ६५.
३. जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ४०८.
४. १३-१४ वीं शताब्दी के जैन महाकाव्य, पृ० १४८.
५. प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० ९९.
६. वही, पृ० १०३.

युध" नाटक का मंचन किया गया था^१। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार, शत्रुञ्जय की अन्तिम यात्रा के लिये, वस्तुपाल ने विक्रम सम्वत् १२९६ (१२४० ई०) में प्रस्थान किया था^२। अतएव निश्चित है कि बालचन्द्रसूरि ने उक्त नाटक की रचना विक्रम संवत् १२९६ से पूर्व की होगी। इस समय तक कवि की अवस्था में प्रौढ़ता का संकेत भी मिलता है। इसलिए इनका जन्म-समय इससे पहले का होना स्वाभाविक ही है।

बालचन्द्रसूरि ने आसङ्गविकृत "विवेकमञ्जरी" पर वृत्ति भी लिखी है। विवेकमञ्जरी वि० सं० १२४८ (११९२ ई०) की रचना है^३। इस वृत्ति के अधार पर अनुमान किया जाता है कि वि० सं० १२५० (११९४ ई०) के आस-पास बालचन्द्रसूरि ने इसकी टीका की होगी। यदि उस समय इनकी अवस्था ३० वर्ष के लगभग मानी जाय, तो इनका जन्म-समय वि० सं० १२२० (११६४ ई०) के लगभग निश्चित होता है। यदि इनकी अवस्था १०० वर्ष मान ली जाय तो इनका मृत्यु-समय वि० सं० १३२० (१२६४ ई०) के लगभग निर्धारित होता है। उक्त अवधि वस्तुपाल और उसके पुत्र जैत्रसिंह के कार्यकाल के अन्तर्गत ही है। अतः कहा जा सकता है कि बालचन्द्रसूरि का समय वि० सं० १२२० (११६४ ई०) से १३२० (१२६४ ई०) के मध्य रहा होगा।

अब प्रश्न उठता है वसन्तविलास महाकाव्य के रचनाकाल का महामात्य वस्तुपाल के जीवनकाल में ही सोमेश्वर ने कीर्तिकौमुदी और अरिसिंह ने सुकृतसंकीर्तन महाकाव्य लिखा था, जिनमें वस्तुपाल का जीवन-चरित्र वर्णित है। इन महाकाव्यों का समय लगभग वि० सं० १२८६ (१२३० ई०) है^४। अतएव इतना तो सुनिश्चित है ही कि वसन्तविलास महाकाव्य की रचना इसके बाद की ही होनी चाहिये।

१. वसन्तविलास, भूमिका पृ० २
२. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ० ३३०
३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४, पृ० २१६
४. वसन्तविलास, भूमिका पृ० १

वसन्तविलास का रचनाकाल निर्धारित करने के लिए अन्तः-साक्ष्य का आश्रय लेना भी आवश्यक है। इस महाकाव्य की रचना, वस्तुपाल की मृत्यु के बाद, उसके पुत्र जैत्रसिंह के अनुरोध पर की गयी है और इसमें वस्तुपाल की मृत्यु वि० सं० १२९६ (१२४० ई०) उल्लिखित है^१। अतः निश्चित है कि यह वस्तुपाल की मृत्यु के पश्चात् लिखी गयी थी। डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी का भी यही मत है।^२

इस महाकाव्य के रचनाकाल की निम्न-सीमा के निर्धारण हेतु जैत्रसिंह के कार्यकाल के सम्बन्ध में भी विचार करना आवश्यक है। जैत्रसिंह को अपने पिता के जीवनकाल में ही वि०सं० १२७९ (१२२३ ई०) में खम्भात का राज्यपाल नियुक्त किया गया था^३। उस समय उसकी अवस्था २५ वर्ष के लगभग रही होगी। इसमें भी अपने जीवन के अन्तिम समय में वस्तुपाल द्वारा जैत्रसिंह को राज्यसंचालन सम्बन्धी शिक्षा देने का उल्लेख किया गया है^४। इससे भी स्पष्ट होता है कि उस समय तक जैत्रसिंह में सूझ-बूझ की परिपक्वता परिपूर्ण थी और वह राज्य-भार सम्भालने में समर्थ हो चुका था। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि जैत्रसिंह लगभग ८० वर्ष की आयु प्राप्त करके दिवंगत हुआ तो उसकी मृत्यु वि० सं० १३३३-३४ (१२७७-७८ ई०) के लगभग निश्चित होती है। डॉ० श्यामशंकर दीक्षित ने इसी आधार पर इस महाकाव्य का रचनाकाल वि० सं० १२८६ (१२३० ई०) से १३३४ (१२७८ ई०) के मध्य माना है^५। जैसा कि हम जानते हैं कि बालचन्द्रसूरि का अन्तिम समय वि० सं० १३२० (१२६४ ई०) है। अतएव, वसन्तविलास महाकाव्य की रचनाकाल की निम्न-सीमा वि० सं० १३२० (१२६४ ई०) तक रखना अत्यन्त तर्कसंगत है।

उपर्युक्त विवरणानुसार, वसन्तविलास महाकाव्य का रचनाकाल

१. वही, सर्ग १४, श्लोक ३७
२. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ४०८
३. वसन्तविलास, भूमिका, पृ० १३
४. वही, सर्ग १४, श्लोक ३८
५. १३-१४वीं शताब्दी के जैन महाकाव्य, पृ० १४८

वि० सं० १२९६ (१२४० ई०) से १३२० (१२६४ ई०) के मध्य माना जा सकता है।

जीवन-वृत्तान्त—

महाकवि ने ग्रन्थ के प्रथम सर्ग में अपना संक्षिप्त परिचय दिया है और वहाँ जैनमुनि होने के पूर्व की आत्मकथा का उल्लेख किया है। कवि के गृहस्थाश्रम का जो परिचय इस महाकाव्य में दिया गया है, वह उनकी अन्य कृतियों में नहीं है।

बालचन्द्रसूरि का जन्म “मोढेरक” नामक स्थान पर हुआ था, जो वर्तमान समय में गुजरात प्रान्त के “कादि” जिले में स्थित और “मोढेरा” टाउनके नाम से सुप्रसिद्ध है। इनके पिता का नाम “धरादेव” और माता का नाम “विद्युत्” था, तथा इनका सम्बन्ध “मोढ” नामक सुप्रसिद्ध वंश से था। अतएव यह कहना भी तर्कसंगत ही है कि इसी ब्राह्मण वंश के नाम पर उक्त स्थान का नामकरण हुआ, जो आज भी अपने पूर्वरूप में प्रचलित है। इनके माता-पिता अत्यन्त धार्मिक और जैन-धर्म के अनुयायी थे। धर्म, कर्म, दान एवं तीर्थयात्रियों पर इनकी अटूट आस्था थी।

बालचन्द्रसूरि का बचपन का नाम मुञ्जाल था^१। डॉ० रामजी उपाध्याय ने इन्हें “मञ्जुल” कहा है^२। वस्तुतः यह नाम भले ही बोलचाल की भाषा में माधुर्यपूर्ण हो अथवा अंग्रेजी भाषा में लिखे गये “मुञ्जाल” शब्द के हिन्दी-रूपान्तर में मञ्जुल कर दिया गया हो, परन्तु बालचन्द्रसूरि का नाम मुञ्जाल ही था न कि मञ्जुल।

बाल्यावस्था में ही इनमें जैनधर्म के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो गयी थी। फलतः वे धार्मिक गुरु चन्द्रगच्छीय जैनाचार्य हरिभद्रसूरि के सम्पर्क में आये। उन्होंने मुञ्जाल को जैनधर्म की दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लिया। दीक्षोपरान्त गुरु ने मुञ्जाल का नाम बालचन्द्र रखा^३। अन्तिम क्षणों में उन्हें अपने स्थान पर आचार्य पद पर भी नियुक्त किया। चौलुक्य नरेशों के गुरु पद्मादित्य,

१. वसन्तविलास, प्रथम सर्ग, श्लोक ४२

२. संस्कृत-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४४६

३. वसन्तविलास, प्रथम सर्ग, श्लोक ५४

अध्यापन-गुरु और वादिदेवगच्छ के आचार्य उदयप्रभसूरि ने इन्हें सिद्धसारस्वत मंत्र का उपदेश दिया था^१। बालचन्द्रसूरि पर सरस्वती जी की विशेष अनुकम्पा थी^२। डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी ने भी वसन्तविलास महाकाव्य के प्रथम सर्ग के आधार पर ही इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है^३।

अन्तःसाक्ष्य के आधार पर केवल यही जानकारी प्राप्त होती है। इनके उत्तरकालीन जीवन के सम्बन्ध में कोई ठोस प्रामाणिक सामग्री प्राप्त नहीं होती है। इस महाकाव्य में वर्णित तीर्थस्थानों की वास्तविक स्थिति एवं तीर्थों की वन्दना तथा स्तुति आदि में प्रयुक्त भक्ति-भावादि को देखते हुए ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि आचार्यपद-प्राप्ति के बाद, इन्होंने अपना अधिकांश समय भ्रमण, तपश्चर्या और साहित्य-सृजन में ही व्यतीत किया होगा।

कर्तृत्व —

इनकी रचनाएं इस प्रकार हैं—

- | | |
|-------------------------|-----------------------|
| (१) वसन्तविलास महाकाव्य | (२) करुणावज्रायुध |
| (३) विवेकमञ्जरीवृत्ति | (४) उपदेशकन्दलीवृत्ति |

इनके अतिरिक्त, डॉ० रामजी उपाध्याय के अनुसार, वस्तुपाल की इच्छानुसार, बालचन्द्रसूरि ने १५ तरङ्गों में “कथारत्नसागर” की रचना की थी^४। प्रबलप्रमाणाभाव के कारण इसे बालचन्द्रसूरि की रचना मानना न्यायोचित प्रतीत नहीं होता।

(१) वसन्तविलास महाकाव्य—

यह वीररस प्रधान एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसका नामकरण, वस्तुपाल के अपरनाम वसन्त या वसन्तपाल के आधार पर किया गया है। इसमें वस्तुपाल का समग्र जीवन-चरित्र वर्णित है। इसमें १४ सर्ग और १००७ श्लोक हैं। प्रत्येक सर्ग की समाप्ति पर कवि ने जैत्रसिंह की प्रशंसा में एक या दो वृत्तों की रचना की है, जिसके

१. वसन्तविलास, प्रथम सर्ग, श्लोक ५६-५७

२. वही, प्रथम सर्ग, श्लोक ७०-७४

३. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६, पृ० ४०८

४. संस्कृत-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३७४

अनुरोध पर यह काव्य लिखा गया था। वस्तुपाल के समसामयिक कवि द्वारा रचित होने के कारण इसमें वर्णित वस्तुपाल-विषयक घटनाओं की सत्यता में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

यद्यपि वसन्तविलास महाकाव्य की कथावस्तु छोटी है, तथापि महाकाव्योचित ढंग से उसका विस्तार किया गया है। सरस्वती और आदिनाथ की वन्दना से काव्य का शुभारम्भ होता है। तदनन्तर, अभीष्ट वन्दन, सज्जन-प्रशंसा, खल-निन्दा, काव्य-माहात्म्य और स्वकीय वैयक्तिक जीवन पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय सर्ग में चौलुक्यों की राजधानी अणहिलवाड पाटन का भव्य वर्णन है। तृतीय सर्ग ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें मूलराज प्रथम से लेकर भीमदेव द्वितीय तक ११ चौलुक्य राजाओं का संक्षिप्त इतिहास है। चौलुक्यों की बघेल शाखा के अर्णोराज, लवण-प्रसाद व वीरधवल के शौर्य का वर्णन भी है। वस्तुपाल के पूर्वजों-चण्डप, चण्डप्रसाद, सोम, अश्वराज, आदि का परिचय है और अन्त में वस्तुपाल व तेजपाल के मंत्रिपद पर नियुक्ति का उल्लेख है। चतुर्थ सर्ग में वस्तुपाल और तेजपाल के गुणों का वर्णन है। पञ्चम सर्ग में वस्तुपाल और शङ्ख के मध्य युद्ध एवं शङ्ख की पराजय। षष्ठ सर्ग में षट्त्रयु-वर्णन, सप्तम सर्ग में पुष्पावचय, दोलाक्रीडा और जलक्रीडा का वर्णन है। अष्टम सर्ग में सन्ध्या, चन्द्रोदय और सुरतादि का उल्लेख है।

वस्तुपाल की तीर्थयात्राओं का सविस्तार वर्णन नवम सर्ग/ से त्रयोदश सर्ग तक है। इसमें विमलगिरि, प्रभासतीर्थ और रैवतक-गिरि की तीर्थ यात्राओं तथा क्रमशः आदिनाथ, सोमेश्वर व नेमिनाथ के पूजन का भव्य एवं मनोहर वर्णन है। अन्तिम १४ वें सर्ग में सर्व-प्रथम वस्तुपाल के धार्मिक कृत्यों का वर्णन है और अन्त में एक रूपक के आधार पर वस्तुपाल की मृत्यु-तिथि माघकृष्ण पञ्चमी, रविवार प्रातः वि० सं० १२९६ (१२४० ई०) का स्पष्ट उल्लेख है, जो अत्यन्त दुर्लभ है^१।

प्रस्तुत महाकाव्य एक चरित्र प्रधान काव्य है, इसमें चरित्र-

१. वसन्तविलास, सर्ग १४, श्लोक ३७

चित्रण पर विशेष ध्यान दिया गया है। इसमें वस्तुपाल, तेजपाल, वीरधवल और शंख आदि प्रमुख पात्र हैं। जिनमें नायक वस्तुपाल का चरित्र सर्वोपरि है। इसमें प्रकृति के आलम्बन, उद्दीपन एवं मानवीकरण रूपों का स्पष्ट चित्रांकन किया गया है। लोक-चित्रण में कवि को महती सफलता प्राप्त है। तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक वातावरणों की भव्यता द्रष्टव्य है।

काव्य के आत्मतत्त्व रस का सर्वत्र समुचित रूप से निर्वाह किया गया है। अङ्गीरस वीर है। पञ्चम/सर्ग में युद्धवीर की अभिव्यक्ति, युद्ध प्रसङ्गों में रौद्र, वीभत्स रस, सप्तम/अष्टम/सर्ग में सम्भोग शृङ्गार तथा चतुर्दश सर्ग में विप्रलम्भ व कला की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

काव्य की भाषा सरल, कोमल, स्वाभाविक, प्रौढ़ तथा परिमार्जित है। भावानुकूल भाषा तथा यत्र-तत्र सूक्तियों का प्रयोग है^१। षष्ठ एवं द्वादश सर्ग में यमकालङ्कार का सर्वाधिक प्रयोग है। उपमा और उत्प्रेक्षा पर भी पाण्डित्य-प्रदर्शनार्थ/विशेष बल दिया गया है। पञ्चम और द्वादश सर्गों में विविध छन्दों की योजना हुई है। कुल मिलाकर २५ प्रकार के वर्णिक छन्द और ४ प्रकार के वर्णाद्धि समवृत्त प्रयुक्त हुए हैं, जिनमें उपजाति छन्द (२८७) सर्वाधिक हैं। वैदर्भी/रीति में विरचित प्रस्तुत काव्य में गुणत्रय का सफल प्रयोग हुआ है। निश्चय ही, काव्यशास्त्रीय नियमों के अनुकूल वसन्तविलास अपने समय की एक सफल कृति है।

(२) करुणावज्रायुध नाटक—

पांच अङ्कों वाला यह नाटक, वस्तुपाल की संघ यात्रा के समय, शत्रुञ्जय में यात्रियों के मनोविनोदार्थ आदिनाथ के मन्दिर में दिखाया गया था^२। यह वि० सं० १२९६ (१२४० ई०) से पूर्व की रचना है।

कथावस्तु में चक्रवर्ती राजा वज्रायुध द्वारा बाजपक्षी को अपना मांस देकर कबूतर की रक्षा करना प्रदर्शित किया गया है। नाटक का नायक वज्रायुधचक्रवर्ती, पूर्वभव में तीर्थङ्कर शान्तिनाथ का जीव-

१. वसन्तविलास, सर्ग १०, श्लोक १७ व २३, सर्ग ११, श्लोक ८२

२. वही, (सी०डी० दलाल), भूमिका पृ० २

था। जैनेतर साहित्य में भी प्रस्तुत कथा रूपान्तर से प्राप्त होती है। महाभारत के वनपर्व में शिवि और कपोत की कथा तथा बौद्धजातक संख्या ४९९ की कथा उसी प्रकार की है।

इस नाटक का कथानक क्षेमङ्कर जिनाधिप के पुत्र राजा वज्रा-युध से सम्बन्धित है। वह चतुर्दशी के पौषधव्रत को पूर्ण करके पौषध-शाला में पुरुषोत्तम नामक मंत्री के साथ—“जैन धर्म ही एकमात्र धर्म है। जिससे स्वर्ग, अपवर्ग और समृद्धि प्राप्य है” —वार्तालाप कर रहा था। विदूषक चार्वाक धर्म की श्रेष्ठता बतलाते हुए हास्य रस का सृजन करता है। इसी समय नेपथ्य में “बचाओ, बचाओ, की ध्वनि सुनायी पड़ती है। श्येन द्वारा अनुगमित कपोत राजा की क्रोड में आ गिरा और प्राण-रक्षा की याचना की। राजा ने श्येन के वक्तव्य को अस्वीकार कर दिया। श्येन ने कहा—“आप सापत्न्य व्यवहार करते हुए कपोत की रक्षा कर रहे हैं और मुझे मार रहे हैं”। राजा स्वयं शारीरिक मांस देने के लिए उद्यत होता है और तराजू में जा बैठता है। आकाश-ध्वनि होती है, श्येन और कपोत देव रूप में प्रकट होते हैं। राजा का शरीर स्वस्थ हो जाता है और देवगण उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।

प्रस्तुत नाटक वस्तुतः जैनधर्म के प्रचार और प्रसार हेतु लिखा गया है। इसमें अभिनय कम, संवाद की अपेक्षा कविताएं अधिक है। इसमें कुल १३७ श्लोक हैं। अधिकांश भाग, धार्मिक वाद-विवाद के रूप में है। विष्कम्भक पर्याप्त विस्तृत है। इसमें जैनधर्म की प्रशंसा और वैदिकधर्म की निन्दा अधिक है।

(३) विवेकमञ्जरीवृत्ति—

जैनमहाराष्ट्री प्राकृत में रचित १४४ श्लोकों की एक कृति है, जिसको आसड कवि ने वि० सं० १२४८ (११९२ ई०) में लिखा था। प्रथमतः महावीर स्वामी का स्तवन, तदनन्तर विवेक-माहात्म्य पर

१. एकं जैनं विना धर्ममन्ये धर्माः कुधीमताम् ।

संवृता एव शोभन्ते पटच्चरपटा इव ॥ —करुणा वज्रायुध, श्लोक ४०

२. किमयं सोदस्तेऽहं सापत्नेयः कथं नृप ।

यदेनं त्रायसे मां तु त्रियमाणमुपेक्षते ॥ —करुणावज्रायुध, श्लोक ९८;

प्रकाश डाला गया है। विवेक द्वारा मन-शुद्धि के चार कारणों का उल्लेख है। - (क) चार कारणों की प्रतिपत्ति (ख) गुणों का सच्चा अनुमोदन (ग) दुष्कृत्य एवं पापों की निन्दा एवं (घ) १२ भावनाएं, ये सविस्तार वर्णित हैं। तीर्थंकर, सिद्ध, साधु और धर्म— इन चतुष्टयों को 'मंगल' और इनकी शरण में जाने के लिए कहा गया है।

बालचन्द्रसूरि ने इस कृति पर एक वृत्ति लिखी है। वि० सं० १३२२ (१२६५ ई०) की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है।^१ मूलग्रन्थ में उद्धृत दृष्टान्तों के स्पष्टीकरण के लिए— बाहुबलि, सनत्कुमार, स्थूलिभद्र, सीता, दमयन्ती, विलासवती और नर्मदा सुन्दरी आदि छोटी-बड़ी कथाएं दी गयी हैं। चार कारणों को चार द्वार कहकर वृत्तिकार ने प्रत्येक द्वार के लिए "परिमल" संज्ञा का प्रयोग किया है।

(४) उपदेशकन्दलीवृत्ति —

जैन महाराष्ट्री प्राकृत में रचा असड कवि की एक कृति है, जिसमें १२५ पद्य हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रकार के उपदेशों से परिपूर्ण हैं। इस वृत्ति की वि० सं० १२९६ (१२४० ई०) में लिखी एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त होती है। इस वृत्ति की रचना में देवानन्द गच्छ के कनक-प्रभ-शिष्य प्रद्युम्न एवं बृहद्गच्छ के धनेश्वरसूरि के शिष्य पद्मचन्द्र ने सहायता की थी^२। बालचन्द्रसूरि ने वृत्तिभाग में चन्द्रगच्छ से सम्बन्धित सभी जैनाचार्यों का क्रमानुसार विवरण दिया है। इसमें १४२ श्लोकों में चन्द्रगुप्त तथा प्रद्युम्नसूरि से लेकर बालचन्द्रसूरि तक सभी आचार्यों का उल्लेख है।

समोक्षा —

बालचन्द्रसूरि की समस्त कृतियों पर विहङ्गम दृष्टिपात करने से परिज्ञात होता है कि इनकी रचनाएं सूक्ष्म से स्थूल की ओर अग्रसर होती गयी है। इनमें शब्दार्थ-वैचित्र्य एवं भावों की परिपक्वता का

१. जैन-साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ४, पृ० २१६

२. वही, पृ० १९८

(३५वें अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन, हरिद्वार के लिए प्रस्तुत एवं पठित शोध-पत्र)

विकास क्रमशः हुआ है। ऐसी सम्भावना की जाती है कि साहित्य-जगत् में रचनाक्रम के अनुसार, विवेकमञ्जरी वृत्ति पहली और उपदेशकन्दली-वृत्ति दूसरी कृति मानी जा सकती है। तत्पश्चात् एक नाटककार के रूप में बालचन्द्रसूरि प्रस्तुत हुए होंगे। नाटक की प्रौढ़ तथा परिमार्जित भाषा-शैली व जैनधर्म के आचरण से परिपूर्ण कथा-वस्तु को देखते हुए, इसे वृत्तियों के बाद की रचना कहा जा सकता है।

वसन्तविलास महाकाव्य आचार्य-पद प्राप्ति के बाद की रचना है और यह उनकी अन्तिम कृति है। इसके पूर्व की कृतियों में "सूरि" शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। इस महाकाव्य में उन्होंने अब तक प्राप्त समस्त अनुभवों का पूर्णरूपेण प्रयोग किया है। इसमें करुणा-वज्रायुध जैसी हठधर्मिता दृष्टिगोचर नहीं होती है। साहित्यिक दृष्टि से यह कवि का सर्वश्रेष्ठ जीवन-पुष्प है। काव्यशास्त्रीय समस्त लक्षणों से परिपूर्ण वसन्तविलास महाकाव्य निश्चय ही बालचन्द्रसूरि के अमरत्व का प्रतीक है।



संस्कृत-विभाग

भवन्स मेहता महाविद्यालय
भरवारी, इलाहाबाद (उ०प्र०)

अन्य प्रमुख भारतीय दर्शनों एवं जैन दर्शन में कर्मबन्ध का तुलनात्मक स्वरूप

—कु० कमला जोशी

प्रायः समस्त भारतीय अध्यात्म जगत् में कर्म और बन्धन की चर्चा मिलती है। बन्धन का अर्थ है—संसार चक्र में पड़ना, जन्म ग्रहण करना, शरीर-मन-प्राण-इन्द्रियादि से सम्बन्ध होना एवं सुख-दुःख भोगना^१। प्रायः सभी विचारकों ने आत्मा को मूलतः शुद्धरूप में स्वीकार किया है। रागद्वेषासक्तिमूलक कर्म और उसके परिणामस्वरूप प्राप्त बन्धन ही जीव को अनेकानेक सांसारिक दुःखों की बेड़ी में जकड़ कर उसके निर्मल स्वरूप को मलिन करते हैं। वस्तुतः रागादिमूलक कर्म ही वास्तविक बन्धन हैं। कर्म के अच्छे या बुरे होने से ही जीव को अच्छी या बुरी योनियों में देहेन्द्रियादि और भोग मिलता है। प्राणी को स्वकृत शुभाशुभ कर्मों का फल अनिवार्यतः भोगना पड़ता है। अच्छे कर्म का परिणाम शुभ और बुरे कर्म का परिणाम अशुभ होता है। कर्म के सर्वमान्य होने पर भी दार्शनिकों ने अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार इसका वर्णन किया है। प्रस्तुत लेख में प्रमुख भारतीय दर्शनों के अनुसार कर्म-बन्ध सम्बन्धी विचारों पर संक्षिप्त तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए जैनमत की विशिष्टता पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है।

मूल तत्त्वों को जानने से मोक्ष मिलता है एवं मूल तत्त्वों के विकृत रूप में निष्ठा से प्राणी बन्धन में पड़ा रहता है^२। गीता (३।५) के

१. (क) सांख्यकारिका १, शास्त्रदीपिका पृ० १२५, प्रकरणपञ्चिका पृ० १५६; (ख) तत्त्वार्थसूत्र ८।२ और ३
२. (क) धम्मपद १४।५, तत्त्वार्थसूत्र १।१-२; (ख) न्यायसूत्र १।१।२, वैशेषिक सूत्र १।१।२ और ४; सांख्यकारिका—६७; (ग) ब्रह्मसूत्र—१।१।४; बृहदारण्यकोपनिषद्—३।३।१; एवं गीता १।८।५५ शाङ्करभाष्य

अनुसार प्राणी संसार में निरन्तर कुछ न कुछ काम करता रहता है। अतः पूर्वकृत कर्मफलों का भोग करते हुए जीव भावी जीवन के लिए दैहिक सुखदुःखादि देने वाले कर्मों का अनजाने में उपार्जन भी करता जाता है। बन्धन एवं कर्म की कार्यकारण रूप यह परम्परा अनादिका-लीन है। वेदों में कर्मसिद्धान्त बीजरूपेण प्राप्त होता है। यथार्थतः कर्म-सिद्धान्त की उत्पत्ति उपनिषत्काल में हुई थी और वेदमूलक दर्शनों की तरह जैनों एवं बौद्धों ने भी इस सिद्धान्त को वहीं से ग्रहण किया है^१। वेदों में प्राप्त होने वाले कर्म यज्ञ के रूप में हैं और निश्चित रूप से फलित होते हैं। ऋग्वेद (७।८६।६) के अनुसार पूर्वजन्म के अशुभ कर्मों के कारण लोग पापकर्म में प्रवृत्त होते हैं। ऋत् कर्मफल की व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने वाला तत्त्व है^२। उपनिषदों में कर्म-गति का देवयान और पितृयान के रूप में उल्लेख है। शुभाशुभ कर्म शुभाशुभ जन्म के कारण होते हैं^३। कर्म वासना, संस्कार, अदृष्ट या अपूर्व शक्ति के रूप में संसारी जीव के साथ रहते हैं एवं कर्मफल देते हैं। गीता (२।४७) में आसक्तिमूलक कर्म को ही बन्ध का कारण कहा गया है। इसलिए जीवन्मुक्त की चेष्टायें बन्धजनक नहीं मानी जातीं। कर्मानुसार जीवों की परा एवं अपरा (गीता ८।२६) दो गतियाँ होती हैं। पुण्यकर्मा पुनः जन्म नहीं लेते अपितु उनकी "परागति" होती है। वे देवयान मार्ग से सूर्यरश्मि के सहारे सदा के लिए ऊपर चले जाते हैं। शुभाशुभ मिश्रित कर्म करने वाले पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक जाते हैं। कुछ समय वहाँ रहकर फलभोग हेतु संसार में लौट आते हैं। यही "अपरा गति" है। कर्म एवं लोकवश इस मार्ग के अनेक भेद होते हैं।

जैन दर्शन में कर्म और जीव के संयोग की एक विशेष प्रक्रिया बतायी गयी है। कर्म सूक्ष्म पुद्गलों के रूप में होते हैं। कर्मों का जीव की ओर जाना 'आस्रव' है एवं कर्मपुद्गलों और जीव का एक-दूसरे

१. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय पृ० २३

२. मैकडॉनल के अनुसार इस शब्द का प्रयोग आदेश, उचित सत्य, नियत फलदायी व्यवस्था आदि अनेक अर्थों में है—वैदिक माइथालोजी पृ० ११

३. (क) कठोपनिषद् २।५।७,

(ख) पुण्डो वै पुण्डेन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ३।२।१३—बृहदारण्य-कोपनिषद्

में प्रविष्ट होना या संलग्न हो जाना “बन्ध” कहलाता है^१। जैसे—शरीर में तेल का पुता होना आस्रव और तेल से पुते शरीर में धूल का जम जाना बन्ध कहा जा सकता है^२। बन्ध के चार भेद हैं—प्रकृति स्थिति, अनुभाग और प्रदेश^३। प्रकृतिबन्ध में मुख्यतः आठ प्रकार के कर्म आते हैं। ये कर्म हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय(तत्त्वार्थसूत्र ८।५)। फल के अनुरूप ही कर्मों के नाम रखे गये हैं। इनके ज्ञान एवं दर्शन का आवरण करने वाले, नाम-आयु, जात्यादि निर्धारित करने वाले विविध कर्म हैं। जैन ग्रन्थों में इनके अनेक भेदोपभेदों का विस्तृत वर्णन मिलता है। स्तिथिबन्ध में कर्मपुद्गलों के साथ जीव के रहने का समय, अनुभागबन्ध में कर्मों का फलभोग एवं प्रदेशबन्ध में आत्मा और कर्म के प्रदेशों के परस्पर संयुक्त होने की प्रक्रिया उल्लिखित है। जैन विचारकों ने आस्रव, बन्ध एवं कर्म का भाव और द्रव्य, दोनों दृष्टियों से विवेचन किया है; यथा—किसी कार्य की सिद्धि के लिए मस्तिष्क में आने वाला विचार या संकल्प ही भावकर्म या सूक्ष्मकर्म कहा जाता है। कार्य सम्पन्न होना स्थूल रूप में द्रव्यकर्म कहलाता है। काम-क्रोध-लोभादि कषायजन्य मन-वचन-देह की चेष्टाओं से कर्मबन्ध होता है^४। जैनसम्मत कर्मपरम्परा स्वतन्त्र, स्वाधीन एवं अपना फल देने में समर्थ है^५।

बौद्धों ने कषायप्रेरित कर्मों को बन्धन का कारण माना है। मानसिक-वाचिक-कायिक, तीनों प्रकार के कर्मविपाक द्वादश-निदान के अन्तर्गत आते हैं वैभाषिकों ने कर्म के दो भेद बताए हैं—चेतना और चेतनाजन्य। “चेतना” में मानसिक कर्मों का एवं “चेतनाजन्य” में वाचिक और कायिक कर्मों का अन्तर्भाव होता है। चेतनाजन्य कर्म भी दो प्रकार के होते हैं—विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति। जिन कर्मों का फल प्रकट

१. तत्त्वार्थसूत्र ६।१-२ और ८।३

२. प्रवचनसार, अंग्रेजी, भूमिका पृ० ४३

३. प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशास्तद्विधयः—तत्त्वार्थसूत्र ८।४

४. मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धनहेतवः—वही ८।१

५. Outlines of Jainism (Cambridge University Press) pp. 3-4

रूप में होता है वे विज्ञप्तिकर्म हैं। अभिधर्मकोश (४।१।७) का अभिमत है कि अविज्ञप्ति कर्म अदृष्ट रूप में रहने वाले और कालान्तर में फलित होने वाले होते हैं। आत्मा को क्षणिक विज्ञान प्रवाह रूप मानते हुए कर्मवाद, बन्ध एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्तों की स्वीकृति बौद्ध दर्शन की विशेषता है।^१

न्याय-वैशेषिक के अनुसार “अदृष्ट” पाप-पुण्य या शुभाशुभ कर्मों का समूह है जो समयानुकूल फल देता है। यही बन्ध है क्योंकि प्रत्येक जन्म में कर्म करने से वर्तमान या भविष्य-जन्मों में फलभोग का चक्र चलता रहता है”। इनके विचार में प्रलयावस्था में सब जीवों के मनस, पूर्वजन्मों के संस्कार और धर्माधर्म अदृष्ट रूप में रहते हैं जो ईश्वर में सिसृक्षा होने पर कार्यरूपेण परिणत होते हैं। इन्होंने मानसिक-वाचिक-कायिक, त्रिविध कर्मों को प्रयत्नजन्य स्वीकार किया है। न्यायमत में स्वीकृत पञ्चविध कर्म (उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण एवं गमन) वैशेषिकों को भी मान्य हैं^२। साक्षात् या परम्परया प्रयत्नजन्य कर्म “सत्प्रत्यय” एवं प्रयत्नरहित “असत्प्रत्यय” कर्म हैं। प्रयत्नरहित होने से पृथिव्यादि महाभूतों के कर्म “अप्रत्यय कर्म” होते हैं^३। रागद्वेषादिमूलक प्रवृत्ति से प्रेरित होकर जीव शुभाशुभ कर्म करता है जिसके परिणामस्वरूप सुखदुःखादि भोगने पड़ते हैं।

योगाचार्यों (योगसूत्र ४।७ व्यासभाष्यसहित) ने योगी एवं अयोगी के भेद से कर्म विभाजन किया है। पुण्य या शुभ कर्म शुक्ल और पाप या अशुभ कर्म कृष्ण कहलाते हैं। योगियों के कर्म अशुक्ल-अकृष्ण (न-पुण्य न पाप) होते हैं अतः बन्धजनक नहीं होते। अयोगी जीवों के कर्म तीन तरह के होते हैं - शुक्ल, कृष्ण एवं शुक्लकृष्ण (शुभाशुभ-मिश्रित)। अयोगियों का कर्माशय तीव्र संवेगादि से किए कर्मों के कारण वर्तमान एवं भविष्य जन्मों में शुभाशुभ जाति-आयु-भोग रूप फलों को देता जाता है, जन्म जन्मान्तरों में किए प्रधान कर्म के अनुकूल

1. Sad Darsana Samuccaya, Notes of Murthy, quoted P. 15

२. न्यायसूत्र १।१।१९ पर वात्स्यायन भाष्य

३. न्यायकारिकावली प्रत्यक्ष खण्ड, का० ६, वैशेषिक सूत्र १।१।१७

४. प्रशस्तपादभाष्य बुद्धि निरूपण

परिणाम निश्चित होता है^१। योगदर्शन में प्रतिक्षण किए जाने वाले कर्म की तीन गतियाँ मानी गयी हैं—कृत कर्मफल का नाश (शुक्ल-कर्मोदयवश कृष्णकर्मों का वर्तमान जन्म में क्षय)^२, प्रधान कर्म के साथ गौणरूप से फलित होना एवं गौण कर्मों का प्रधान कर्म से अभिभूत होकर चिरकाल तक पड़े रहना^३। योग विचारकों का कथन है कि नारकियों का दृष्टजन्मवेदनीय और जीवन्मुक्तों का अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नहीं होता^४। कर्मों की जड़ है—क्लेश। तदनन्तर कर्मों से क्लेश एवं क्लेशों से पुनः कर्म होते रहते हैं। क्लेशमूलक कर्म ही फलदायी होते हैं कर्म वासना, आशय या संस्कारों के रूप में स्थित स्वीकार किए गए हैं।^५ अयोगियों के कर्मों से उनके फलानुकूल गुणों वाली वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है। एक देहान्त के बाद नया जन्म पूर्ववासनाओं की सहायता से ही होता है। ये अनादि वासनायें अपने हेतु (रागादि), फल, आश्रय (चित्त) और आलम्बन (विषयादि) के आधार पर विद्यमान रहती हैं।^६ जिस योनि में जन्म होने वाला है उस योनि में भोगने योग्य जन्मान्तरकृत तदनुरूप कर्मोत्पन्न वासना व्यक्त होती है (योगसूत्र ४।८)। जैसे—किसी मानव का अगला जन्म कर्मवश पशु योनि में होने वाला है। उस मानव ने पूर्वजन्मों एवं वर्तमान जन्म में जितने पशुवत् कार्य (मन-वचन-काय से) किए थे, चित्त में विद्यमान वे सभी पाशविक वासनायें, पशुयोनि प्राप्त होने पर उद्बुद्ध हो जाती हैं और फल देने लगती हैं। कर्मफल का उदय अपने प्रकाशक कर्म की सहायता से होता है।

मीमांसा का प्रधान विषय यज्ञादि कर्म है। इसीलिए इसे कर्मदर्शन कहा जाता है—कर्मैति मीमांसकाः। इनके विचार में वेदसम्मत कर्म “धर्म” एवं वेदनिषिद्ध कर्म “अधर्म” हैं। वेदसम्मत

१. योगसूत्र ४।८ व्यासभाष्यसहित

२. तत्र कृतस्याविपक्वस्य नाशो यथा शुक्लकर्मोदयादिहैव नाशः कृष्णस्य—
योगसूत्र २।१३ पर व्यासभाष्य

३. योगसूत्र १।२१, २।१४

४. योगसूत्र २।१२ पर व्यासभाष्य

५. योगसूत्र ३।३७ और ५१, ४।१ पर व्यासभाष्य

६. योगसूत्र २।१२-१४, ४।८-११ पर व्यासभाष्य

चतुर्विध कर्म हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य एवं निषिद्ध कर्म। कर्म चलता है—यह अनुभूति और चलनात्मक प्रत्यक्ष एक ही तरह का होता है। अतः मीमांसा-मत में वैशेषिकसम्मत पाँच कर्मभेदों का एक ही प्रकार में समावेश हो जाता है। प्रभाकर-सिद्धान्तानुसार कर्म प्रत्यक्ष न होकर संयोगविभागादि से अनुमेय है। मीमांसकों का कहना है कि निष्काम भाव से धर्म या कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए क्योंकि इस संसार में धर्म करने वाले को अवश्य फलप्राप्ति होती है। इस लोक में कृतकर्म से एक अदृष्ट शक्ति की उत्पत्ति होती है। यही अपूर्व है^१। यह कर्म के फलभोग को समयानुकूल फलित करने वाली शक्ति है। पापपुण्य दुःखसुखदायी होते हैं। वेदविहित कर्मों में भिन्न-भिन्न धात्वर्थों, संख्या, देश, निमित्त, फल, प्रकरण, द्रव्य, देवता, प्रधान, अप्रधान (गौण, सहायक) आदि कारणों से कर्मभेद हो जाता है। वैसे, मुख्य रूप से पुण्य-पाप दो कर्म ही बन्धन के कारण माने गए हैं। पुनर्जन्म एवं भवबन्ध के कारण हैं—आत्मज्ञान, निष्काम धर्माचरण, पाप-कर्म में विरति और पूर्वजन्मों के संचित संस्कारों के नाश का अभाव। कुमारिल भट्ट ने भोगायतन (शरीर), भोग साधन (इन्द्रियाँ) और भोग्य विषय (रूप, रस, गन्धादि) रूप त्रिविध बन्धनों को जीवों के भवबन्ध का कारण बताया है। संसारी आत्मा में ज्ञान, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्माधर्म और संस्कार रहते हैं, कर्म करने से भावी जन्मों में देहादि, धर्माधर्म, सुख-दुःखादि उत्पन्न होते हैं। धर्माधर्म से जीव का देहेन्द्रियादि से सम्बन्ध होता है और जीव अनेक योनियों में घूमता रहता है।

अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में अनादि अविद्यावश भ्रम हो जाने से आत्मा का स्वयं को स्थूल या सूक्ष्म देह मान लेना ही बन्धन है। अविद्या से काम एवं काम से कर्मोत्पत्ति होती है। 'काम' विषय के प्रति मन में होने वाला रागयुक्त भाव है। काम की बाहरी प्रतिक्रिया कर्म के रूप में होती है^२। कर्म का अभिप्राय राग-द्वेष के विषयरूप वस्तु की प्राप्ति-अप्राप्ति के लिए की गयी क्रिया से है। इच्छा, रुचि या काम से प्रेरित

१. ब्रह्मसूत्र २।१।५ पर शाङ्करभाष्य, शास्त्रदीपिका एवं प्रकरणपञ्चिका में अपूर्वविषयक मत

२. Indian Philosophy, Radhakrishnan Vol. II P. 623

होकर ही प्राणी क्रियाशील होता है—कर्महेतुः कामः स्यात् । इससे संसार चक्र चलता है । वस्तुतः अविद्या ही बंधन है क्योंकि अविद्या-मूलक विचारों के कारण प्राणी संसार को सत्य समझ बैठता है । बंधन में पड़ने पर आत्मा अपना वास्तविक रूप (ब्रह्मात्व) भूलकर क्षुद्र, दुःखी जीव बन जाता है । क्षणिक विषयासक्ति के कारण उसे विषय मिलने पर प्रसन्नता एवं न मिलने पर खेद होने लगता है । अहंभाव (मैं) की उत्पत्ति से स्वयं को संसार से पृथक् मानने लगता है । अद्वैत वेदान्तियों द्वारा समस्त प्रपञ्च को ब्रह्म में अध्यस्त स्वीकार करनेके कारण 'अहं' शुद्धात्मभाव न होकर केवल अविद्याकृत बन्धन है । अहंभावमूलक न होने से जीवन्मुक्त की क्रियायें कर्म नहीं कहलातीं । अच्छे-बुरे काम के फलस्वरूप सुख-दुःख मिलते हैं । सुखप्राप्ति एवं दुःख दूर करने के लिए पुनः क्रिया करता है जिससे पुनर्जन्म के चक्र में पड़ता है । सारा संसार चरित्र, भाग्यादि कर्मों से निश्चित है । पूर्वकृत कर्मफल होने से इसे ईश्वर का न्यायान्याय कहना उचित नहीं कहा जा सकता^१ । वेदान्त-दार्शनिक व्यावहारिक दृष्टि से पाप-पुण्य का भेद अन्य विचारकों की तरह ही स्वीकार करते हैं । चित्तशुद्धि एवं आत्मसाक्षात्कार के साधक कार्य पुण्य और इससे विपरीत कर्म पाप हैं । द्वैतवेदान्त में कर्म को पाप-पुण्य का असाधारण कारण बताया गया है । यह मुख्यतः तीन प्रकार का है - विहित, निषिद्ध एवं उदासीन । इन तीनों के भी अनेक भेदोप-भेद स्वीकृत हैं । ईश्वर, जीवादि चेतनों में होने वाले कार्य नित्य और देहादि अनित्य वस्तुओं में होने वाली चेष्टायें अनित्य कही जाती हैं^२ ।

प्रायः सभी भारतीय विचारक बन्धन के स्वरूप के विषय में एक-मत हैं । आसक्ति बन्धन की जड़ है । कषायमूलक कर्म अवश्य ही शुभा-शुभ फल देते हैं । ये फल अवश्य भोगने पड़ते हैं । प्राणीमन से सम्बद्ध होने के कारण मनोविज्ञान और साहित्य में भी काम, क्रोध, लोभ, मोह, रति, अरति आदि को मूलप्रवृत्तियों, संवेगों एवं स्थायी भावों के रूप में स्वीकार किया गया है । दर्शनजगत् में ये सांसारिक आवागमन के कारणों के रूप में मान्य हैं । सम्भवतः संसारी जीवों से अनादिकाल से

1. The Six Systems of Indian Philosophy, Max Muller P. 171

२. भारतीयदर्शन, उमेश मिश्र पृ० ४४०, ४४१

सम्बद्ध होने के कारण ही इन्हें प्राणियों की मूल प्रवृत्ति या स्थायीभाव कहा जाता है। पहले कषायोत्पत्ति, तदनन्तर मानसिक-वाचिक-कायिक चेष्टायें स्थूल रूप में सभी को मान्य हैं। कर्मवाद के सिद्धान्तानुसार कृतप्रणाश (कृतकर्म का फल नष्ट होना) तथा अकृताभ्युपगम (न किए कार्य का फल) नहीं होता है। योगशास्त्र (द्वितीय प्रकाश-३०) में कहा गया है कि उग्र पाप की तरह उग्र पुण्य का फल भी इसी जन्म में मिल सकता है। योगदर्शन में तीव्र संवेग से किए जाने वाले कर्मों को तत्काल फलदायी स्वीकार किया है^१। भारतीय दर्शनों में कर्मों के फलित होने की व्यवस्था के विषय में मतभेद होते हुए भी उनकी फल-भोग कराने की क्षमता के विषयमें मतवैभिन्य नहीं दिखायी देता। कर्म अनिवार्यतः फल देते हैं, चाहे स्वयं फल दें या ऋत, अदृष्ट, अपूर्व, आशय, संस्कार या धर्माधर्म के माध्यम से फलित हों। कर्मसंस्कार भोग देने के बाद नष्ट हो जाता है। भोग करते समय ही जीव पुनः कर्मसंस्कारों को अर्जित करता जाता है। कषायमूलक होने से पाप के साथ-साथ पुण्य भी बन्ध का कारण कहा गया है, किन्तु पुण्य या शुभ कार्य मनःशुद्धि में सहायक भी होते हैं। पाप से पुण्य में प्रवृत्ति और धीरे-धीरे दोनों से निवृत्ति होने से पुण्य को परम्परया मोक्षसाधक माना जाता है। व्यावहारिक जीवन में देखा जाता है कि शुभ या सर्व-कल्याणकारी कार्य करने वालों को सुख, सम्मान और यश मिलता है, परन्तु अनेक कारणों से (रागद्वेषादिमूलक होने पर) कालान्तर में सुख भी परिणामतः दुःखदायी हो जाता है।

प्रमुख भारतीय दर्शनों में बन्ध के विषय में भागवत साम्य प्रतीत होता है, किन्तु कर्मभेद इत्यादि में अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुसार भेद भी स्पष्ट हैं। न्याय, वैशेषिक, योग आदि कुछ दर्शन कर्म को ईश्वराधीन स्वीकार करते हैं। जीवफल तो कर्मानुसार ही पाते हैं किन्तु कृत-कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट या पापपुण्यानुसार ईश्वर जीवों को सुख-दुःख रूप फल देता है एवं मुमुक्षु की लक्ष्य-प्राप्ति में सहायता करता है^२। जैन, बौद्ध, सांख्य एवं मीमांसा जैसे निरीश्वर दर्शन कर्मनियामक और

१. योगसूत्र २।१२ पर व्यासभाष्य

२. (क) न्यायसूत्र ४।१।२१, योगसूत्र १।२३-२७ सब्यासभाष्य, गीता १।८।६१

(ख) ब्रह्मसूत्र २।१।३४ पर शाङ्करभाष्य

फलदाता किसी ईश्वर की सत्ता नहीं मानते हैं^१। विचारक तीन रूपों में कर्मविभाजन करते हैं—प्रारब्ध, संचित एवं क्रियमाण। इनमें क्रमशः वर्तमान में भोग देने वाले, भविष्य में भोग्य (कोष में रखे हुए की तरह) एवं शेष प्रतिफल किए जा रहे कर्म हैं। न्यायादि के अनुसार मनादि से किए कर्मों के कारण आत्मा कर्ता होता है। इन अर्थों में जैनसम्मत जीव भी कर्ता है। सांख्यमत में प्रकृति को वास्तविक कर्ता मानने के कारण (सांख्यकारिका—६२) इसका ही संसरण, बन्धन और मोक्ष होता है। अद्वैतवेदान्त एवं सांख्य के विपरीत जैनसम्मत (तत्त्वार्थसूत्र २।३६) जीव का कर्मबन्ध यथार्थ है, मिथ्या या भ्रम नहीं।^१ देह में आत्मा की स्थिति प्राणों द्वारा अनुभूत होने से सप्राण जीव का ही बन्ध होता है। एक जीव द्वारा दूसरे जीव के प्राणों को हानि पहुँचाने पर कर्मबन्ध होता है। अतः स्पष्ट है कि प्राणों से नए कर्म होते हैं। वैशेषिकसूत्र (३।२।४) में भी प्राणों को आत्मा का साधक बताया गया है।

जैनदर्शन में कर्म की पुद्गलरूपता, भेद, बन्ध के स्वरूप इत्यादि की दृष्टि से त्रिशिष्टता प्रतीत होती है। वैसे तो सभी विचारकों का कहना है कि प्राणियों के जीवन का निर्माण कर्म पर निर्भर है किन्तु किस कर्म से किस परिणाम (जाति, आयु, भोग, सौभाग्यादि) की प्राप्ति होती है? इन विचारों को जैनों के अतिरिक्त अन्य दार्शनिकों ने विशेष रूप से अलग-अलग स्पष्ट नहीं किया है। आर्हत दर्शन के सिद्धान्तानुसार व्यष्टिदृष्टि से जीवन और देह के विशेष-विशेष धर्म (गोत्र, आयु, जाति, सौभाग्य, दुर्भाग्य, अनुभूति आदि) विशेष-विशेष कर्म का फल हैं। समष्टि दृष्टि से इनका परिणाम शरीर एवं भोग है। अनेक कर्म मिलकर जीवन के प्रत्येक पहलू को बनाते हैं। समष्टिदृष्टि से कर्म वासनाओं के समूह या कार्मण शरीर के रूप में रहते हैं। कार्मण शरीर सदा जीव के साथ रहता है। अन्य दर्शनों में मान्य अदृष्ट, संस्कार, आशयादि की जैनसम्मत कार्मण शरीर से तुलना की जा सकती है। कार्मण शरीर (पुद्गलों के रूप में) उपार्जित कर्मों का समूह हैं इसलिए इसमें जिन-जिन कर्मों का भोग होता जाता है उनके पुद्गल अलग होते जाते हैं एवं अर्जित कर्मपुद्गल आते रहते हैं।

1. (क) Indian Philosophy, S. Radhakrishnan Vol. II P. 421
- (ख) Outlines of Indian Philosophy, Hiriyanna, P. 169

आत्मा से चिपके कर्मपुद्गलों (सूक्ष्म कण) में पापपुण्य की अधिकता और न्यूनता के तारतम्य से लाल, पीला, काला आदि रंगों (लेश्या) का समायोजन मानना भी इनकी विशेषता है^१। दासगुप्ता लिखते हैं कि सम्भवतः योग दर्शन में कर्मों के शुक्लत्व, कृष्णत्व का विचार जैन दर्शन से लिया गया है क्योंकि योगदर्शन भी पापपुण्यानुसार कृष्णशुक्ल की कल्पना करता है^२। जैनदर्शन में कर्म की बन्धन एवं उदय के अतिरिक्त चार अन्य अवस्थायें भी होती हैं—अपवर्तन, उद्वर्तन, उदीरण एवं संक्रमण। यदि कर्मों को फलभोग कराने में प्रबल रूपेण सक्षम मानने के साथ-साथ कर्मफल को पूर्णतः अपरिवर्तनीय समझ लिया जाए तो अच्छे कर्म करने का प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हो सकता है। इसलिए कुछ विचारकों का कहना है कि विशेष प्रयत्नों से कर्मफल में परिवर्तन किया जा सकता है।^३ जैसे-वर्तमान जन्म में चेष्टापूर्वक शुभ कर्म कर प्राणी पूर्वजन्म के अशुभ विपाक को समाप्त कर सकता है अथवा अशुभ फल में कमी हो सकती है या अशुभ शुभ फल दे सकता है। प्रयत्नपूर्वक शुभ कर्म वर्तमान जीवन के साथ भविष्यजन्मों को भी सुधार देता है। यह कर्मसिद्धान्त का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू है कि जीव अपने श्रम, कुशलता, सजगता एवं चेष्टाओं से भाग्य परिवर्तन करने में समर्थ हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट है कि अनेक स्थानों पर सभी दर्शनों में साम्य दिखायी देता है किन्तु अनेक स्थलों पर विषमता भी है। कर्मबन्ध का अस्तित्व सभी ने माना है एवं इससे मुक्ति पाना ही दर्शनशास्त्रों का लक्ष्य है। कर्म जीवन के निर्माता हैं। अपने जीवन के सुख-दुख का व्यक्ति स्वयं उत्तरदायी होता है। कर्म चुनने की स्वतन्त्रता होने पर भी प्राणी फलभोग चुनने में स्वतन्त्र नहीं होता। सकाम कर्म ही वास्तविक बन्धन है निष्काम कर्म नहीं। प्राणी

१. (क) गोम्पटसार, जीवकाण्ड, मूल ५३६-९३१

(ख) उत्तराध्ययन बृहद्बृत्ति पत्र-६५०

२. Indian Philosophy, Radhakrishnan Vol I, P. 73-1

३. योगसूत्र; २।१३ भगवती १।२५, ३१, ५।१६; सूत्रकृतांगसूत्र १।३१, गणधरवाद २।१५ और ठाणांगसूत्र—४।६०३

कर्म अवश्य करे क्योंकि कर्म जीवन की धुरी है किन्तु यथाशक्ति निष्काम या रागद्वेषादि रहित कार्य करे। कर्म के स्वरूप, भेद, बन्ध, भोक्तृत्व, कर्तृत्व आदि के सम्बन्ध में दर्शनों में अन्तर है किन्तु कर्म के महत्त्व, बन्धनरूप मानने, जीवननिर्माणतत्त्व की कल्पना, निष्काम कर्म, बन्धमुक्ति की अनिवार्यता आदि तथ्यों में समानता भी प्रतीत होती है। आर्हत दर्शन में कर्मबन्ध की प्रक्रिया मौलिक, सुसम्बद्ध एवं अन्य भारतीय दर्शनों से अधिक सूक्ष्म और विश्लेषणपरक है। वे आस्रव एवं बन्ध के रूप में कर्मपुद्गलों से जीवसंयोग के दो चरण मानते हैं और भाव एवं द्रव्य दोनों दृष्टियों से कर्मबन्ध को व्याख्यायित करते हैं। अद्वैत वेदान्त में जो स्थान माया और अविद्या का है, वही स्थान जैनमत में कर्मों का है। अनेक समानताओं, असमानताओं एवं विशिष्टताओं के होते हुए भी प्रमुख भारतीय दर्शनों में कर्मबन्ध के विषय में भावगत साम्य मिलता है।



शोधछात्रा, संस्कृत विभाग
 कुमाऊँ विश्वविद्यालय
 नैनीताल (यू० पी०)

ऋग्वेद में अहिंसा के सन्दर्भ

डॉ० प्रतिभा त्रिपाठी

ऋग्वेद के स्तुतिपरक मन्त्रों में यद्यपि अहिंसा के स्वरूप, भेद-प्रभेदों आदि का विवरण नहीं मिलता तथापि अहिंसाभाव की वर्तमानता में सन्देह नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसमें अनेक अहिंसापरक शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे अध्वरः, अध्वर्या, अदाभ्यः, अस्तृतः, अरिष्टः, अरिष्यतः, अदन्धः, अस्त्रिधः, अहिंसमानः, अमृक्तः, अहूणीयमानः, अघ्नतः, अतूर्तः, अमिनती आदि।¹ यद्यपि इन शब्दों से हिंसा या अहिंसा के नैतिक रूप पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है किन्तु अहिंसाभाव की अवस्थिति सिद्ध हो जाती है।

ऋग्वेद के हिंसापरक मन्त्रों के आधार पर ऋग्वेदिक ऋषियों पर मात्र हिंसाप्रधान दृष्टि रखने का आरोप वस्तुतः निराधार है। ऋग्वेद के सूक्ष्म अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषि मन, वाणी और कर्म से अनावश्यक हिंसा को निन्दनीय दृष्टि से देखते थे। ऋग्वेदिक मन्त्रों में स्थान-स्थान पर अहिंसापरक दृष्टिकोण हिंसा के इस निषेध द्वारा ही अभिव्यक्त हुआ है। मन से, वाणी से एवं शरीर से कहाँ हिंसा नहीं करनी चाहिए, इसका स्पष्ट विवेक वैदिक ऋषियों को था और ऐसे सन्दर्भों के सूक्ष्म अध्ययन से ऋग्वेद में अहिंसा के स्वरूप का आकलन किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से अहिंसा के स्वरूप का अध्ययन मानसिक, वाचिक और कायिक—तीन रूपों में कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त सह-अस्तित्व एवं आत्मकल्याणार्थ वैदिक ऋषि अहिंसा भावना के पक्षधर थे।

मानसिक अहिंसा

मानसिक शक्ति के अभाव, बुद्धि के विकृत होने पर एवं तामसिक शक्ति की प्रधानता होने पर मनुष्य हिंसा भाव से युक्त होता है। मन

दृष्टव्य, लेखिका का लेख 'ऋग्वेद में अहिंसावाचक शब्द,' (भाग प्रथम, भाग द्वितीय) मध्यधारा, अंक-२ जून १९८८ एवं अंक ३-फरवरी १९८९, राका प्रकाशन, इलाहाबाद।

में किसी के प्रति कपट या कुटिल भाव रखना हिंसा है। वैदिक ऋषि का कथन है कि जो व्यक्ति हमारे प्रति कुटिल भाव रखता है उसको उसकी ही दुर्बुद्धि नष्ट कर देती है।^१ प्रथम मण्डल में इन्द्र से स्तुति करते हुए कपट के द्वारा कपटीशुष्ण को मारने की चर्चा की गयी है—

“मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः।”

यहाँ पर सायण ने माया का अर्थ “विविध प्रकार के कपटों से युक्त” लिया है। उक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि कपटी एवं दुर्जन व्यक्ति का वध करना हिंसा नहीं है तथा कपट करने वाले के प्रति कपट करना भी निन्दनीय नहीं है।

मानसिक अहिंसा के पालन में सदबुद्धि का विशेष महत्त्व है। इसीलिए दुष्ट बुद्धियों को दूर करने की और उत्तम बुद्धि देने की प्रार्थना की गयी है,^२ क्योंकि जो द्रोह करते हैं तथा जिन्हें पीड़ा देने में ही आनन्द मिलता है उन्हें उनकी ही दुर्बुद्धि नष्ट कर देती है। इसी दुर्बुद्धि को गीता में तामस बुद्धि कहा है। जो तमोगुण से घिरी हुई बुद्धि अधर्म को “यह धर्म है” ऐसा मान लेती है और अन्य सभी वस्तुओं को भी विपरीत मान लेती है, वह बुद्धि तामसी बुद्धि है।^३ इसीलिए वैदिक ऋषि अग्नि से दुर्मति, पाप, दुर्मनस्त्व आदि दूर करने की प्रार्थना करते हैं।^४

ऋग्वेद में दुर्मतिः^५, दुहः^६, ब्रह्मद्विषः^७ इत्यादि शब्दों का अनेकशः प्रयोग मिलता है जो कि मानसिक हिंसा के स्वरूप को ही द्योतित करता है। मानसिक हिंसा के निवारण हेतु वैदिक ऋषियों ने सौमनस्य, शुभ संकल्पों, दिव्य गुणों एवं उत्तम विचारों की प्राप्ति की कामना की

-
१. ऋग्वेद २।२३।६
 २. ऋग्वेद—१।११।७
 ३. ऋग्वेद—१।८९।२
 ४. श्रीमद्भगवद्गीता—१।८।३२
 ५. ऋग्वेद—४।११।६
 ६. ऋग्वेद—१।१३।१।७
 ७. ऋग्वेद—१।१२।१।४, १।१३।१।१
 ८. ऋग्वेद—२।२३।४, ८।६।४।१, ६।५।२।३

है।^१ ऋग्वेद में वेदमन्त्र (ज्ञान) के द्वेषी को “ब्रह्मद्विषः” कहा गया है और ऐसे ब्रह्मद्वेषी पर तपा हुआ अस्त्र फेंकने की भी प्रार्थना की गयी है।^२ ऋग्वैदिक ऋषि अग्निदेव से द्रोह करने वाले, निन्दा करने वाले एवं परिवाद करने वाले से अपनी रक्षा की प्रार्थना करता है—

“दहाशसो रक्षसः पाह्यश्स्मान्दुहो निंदो मित्रमहो।”

ऋग्वेद में स्थल-स्थल पर द्वेष का निषेध किया गया है तथा ईश्वर से दुष्टकर्म करने वाले एवं दुःख देने वाले द्वेष भावों को दूर कर कल्याणकारी मार्ग प्रशस्त करने की प्रार्थना की गयी है—

“शिवा नः सरव्यासन्तु भ्रात्राग्ने देवेषु युष्मे ॥”^३

अर्थात् हे अग्नि ! हमारे सखाओं और भ्रातृसम्बन्धी कर्म द्योतमान तुममें मंगलकारी हो।

वस्तुतः द्वेष ही हिंसा का जनक है, इसके बिना हिंसा का अस्तित्व नहीं होता है। इसीलिए स्थल-स्थल पर द्वेष की भावनाओं को दूर करने की प्रार्थना ईश्वर से की गयी है—

“विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।”^४

वैदिक ऋषि द्वेष की भावना को ही सब प्रकार की हिंसा का मूल मानते हैं और हृदय से द्वेष, द्रोह आदि मनोविकारों का मूलोच्छेदन ही अहिंसा सिद्धान्त के पालन का प्रथम सोपान मानते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में अग्नि से द्वेष की भावनाओं को दूर करने की प्रार्थना की गयी है—

“अप द्वेषांस्या कृधि ॥”^५

द्वेष के समाप्त होने पर ही अहिंसा साधक का अन्तःकरण शुद्ध एवं सात्विक भाव से ओतप्रोत होगा, और तभी वह अहिंसा सिद्धान्त के सूक्ष्म रूप की ओर उन्मुख होगा। वैदिक ऋषि की मान्यता है कि

१. ऋग्वेद—६।५३।९, १०।२०।१

२. ऋग्वेद—६।५२।३

३. ऋग्वेद—४।१०।८

४. ऋग्वेद—५।८२।५

५. ऋग्वेद—३।१६।५

सदा उत्तम मन और शुभ संकल्पों के साथ ईश्वर की साधना करनी चाहिए। एक स्थल पर ऋषि कहता है—देवत्व की कामना करने वाले मुझ साधक को जो शत्रु मारता है, दुष्ट वचन कहता है अथवा शाप देता है, उसकी भी निन्दा करने से डरता हूँ, जैसे कोई चतुर पुरुष जुआ खेलते समय, पासा किसके पास जायेगा—यह सोचकर डरता है।^१

पाप भी मानव मन की एक दुष्प्रेरक स्थिति है जिसे मानसिक हिंसा से जोड़ा जा सकता है। पापयुक्त हृदय से अहिंसा का विचार कदापि स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि पाप भी हिंसा का ही एक अंग है। हिंसात्मक कार्यों को जब धार्मिक दृष्टि से देखा जाता है तो वह पाप कहलाता है। ऋग्वेद में अनेक ऐसे प्रसंग मिलते हैं जिसमें पाप को दूर करने की प्रार्थना की गयी है। ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में आदित्यों से रोग, शत्रु, दुर्बुद्धि को दूर करने की तथा पाप से पृथक् करने की प्रार्थना की गयी है।^२ ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में भी स्वयं को पाप एवं दुष्कर्मों से दूर करने की अग्नि से प्रार्थना की है।^३ एक अन्य स्थल पर अग्नि से स्तुति करते हुए वैदिक ऋषि कहता है—रात्रि में जो आप सुखकर हैं, द्योतमान हैं, हम यजमानों की पाप रूप मति को दूर करें, हमारे पाप को दूर करें तथा हमारी दुर्मतियों को दूर करें।^४ अनेक स्थानों पर अपने हृदय को निर्मल, पवित्र एवं पाप रहित करने की प्रार्थना की गयी है। अतः स्पष्ट है कि अहिंसा भाव से युक्त, विकाररहित शुद्ध अन्तःकरण की कामना ही ऋग्वैदिक ऋषियों को अभीष्ट है।

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों के द्वारा देवताओं के प्रति की हुई ऐसी अनेक स्तुतियाँ हैं, जिनमें उनसे सद्गुण ग्राह्यता, सौमनस्य, सदाशयता आदि देने की प्रार्थना की गयी है। इसी प्रसंग के निम्नोक्त मन्त्र में ऋषि इन्द्र की स्तुति करता है और उन स्तुतियों को सद्गुणग्राही होने की प्रार्थना करता है—

१. ऋग्वेद—१।४१।८-९

२. ऋग्वेद—८।१८।१०

३. ऋग्वेद—४।१२।४-६

४. ऋग्वेद—४।११।६

“अस्मे ता त इन्द्र सन्तु सत्याऽहिंसन्तीरूपस्पृशः ।
विद्यामयासां भुजो धेनूनां न वज्रिवः ॥”^१

सायण के भाष्यानुसार इसका भाव है कि—हे इन्द्र ! हमारी स्तुतियाँ तुम्हें पीड़ा न देती हुई (उद्वेलित न करती हुई), इस प्रकार हमारे दृष्ट-अदृष्ट भोगों को देने वाली हो जैसे गोरक्षकों के लिए गाय से दुग्धादि भोग मिलते हैं । यहाँ पर सायण ने अहिंसन्ती का अर्थ अहिंसक लिया है । दशम मण्डल के एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि मुझमें जो दोष हों, जो मैंने द्रोह किया हो, जो श्राप दिया हो तथा जो असत्य भाषण किया हो, उन सब दोषों को जल मेरे शरीर से बाहर ले जाए और मैं शुद्ध हो जाऊँ ।^२ ऋग्वेद में विश्वशान्ति के भाव पर भी बल दिया गया है । वैदिक ऋषि कामना करता है—सूर्य की किरणों हम सभी के लिए शान्ति प्रदान करने वाली हो, सभी दिशाएँ शान्तिदायक हो ।

“शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु” ।^३

वाचिक अहिंसा

परुषभाषण के द्वारा दूसरों को पीड़ा पहुँचाना अथवा वाणी द्वारा द्रोह प्रकट करना वाचिक हिंसा है तथा मृदुवाणी एवं मंगलमय वचनों द्वारा दूसरों को सुख पहुँचाना वाचिक अहिंसा कहलाता है । ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल में वाचिक अहिंसा का स्वरूप स्पष्ट रूप से वर्णित है—

“सुमङ्गलो भद्रवादी वदेह”^४

सायण ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

“सुमङ्गलम् कल्याणमङ्गलः भद्रवादी शोभनवादी सन् इह अस्म-
द्विषये वद मङ्गलम् सूचम् ।”

इसी प्रकार दशम मण्डल में वाचिक अहिंसा के स्वरूप को उपमा के द्वारा अधिक स्पष्ट किया गया है—

१. ऋग्वेद—१०।२२।१३

२. ऋग्वेद—१०।९।८

३. ऋग्वेद—७।३५।८

४. ऋग्वेद२।४२।२-३

“सक्तुमिवः तितडना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिता धिवाचि ॥”

अर्थात्—जैसे चलनी से सत्तू को स्वच्छ कर लेते हैं, वैसे ही बुद्धिमान, श्रेष्ठ पुरुष बुद्धि बल से वाणी को प्रस्तुत करते हैं (उस समय) तथा जो प्रेमभाव से युक्त ज्ञानी लोग मित्रता के भावों को जानते हैं, उनकी वाणी में कल्याणकारक मंगलमयी लक्ष्मी निवास करती हैं।^१ इसी प्रकार अग्नि से स्तुति करते हुए वैदिक ऋषि कहता है—जो दूसरों की निन्दा करने वाले अशिव, अभद्र थे. इस समय तुम्हारी सेवा करके (शिवा) सब प्रकार से कल्याणमय हो गए हैं; सम्यक् आचरण वाले मुझको जो कटूक्तियों से निन्दित करते हैं, ऐसे मेरे शत्रु स्वयं वाणी से नष्ट हो गए।^२ वैदिक ऋषि अग्नि से द्रोह करने वाले, निन्दा करने वाले और परिवाद करने वाले से रक्षा करने की प्रार्थना करता है।

“दहाशसो रक्षसः पाह्यश्स्मान्दुहो निदो मित्रमहो अवद्यात् ॥”^३

ऋग्वेद में परुषवचन के लिए “मृधवाचः” तथा असत्यवचन के लिए “द्रोघवायः” शब्द प्रयुक्त हुए हैं। परुष भाषण के प्रति वैदिक ऋषियों की निषेधात्मक दृष्टि थी तथा ऐसे हिंसापरक वचन बोलने वाले के लिए देवताओं से दण्ड देने की प्रार्थना की गयी है। सप्तम मण्डल में अग्नि से कठोर भावी राक्षसों को मारने की प्रार्थना की गयी है।^४

“जरूथं हन्” सायण ने अपने भाष्य में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

“जरूथं परुषभाषिणं जरणीयं वा रक्षोगणं हन् जति ।”

षष्ठ मण्डल में भी कहा गया है—

य ई राजानावृतुथा विदधद्रजसो मित्रो वरुणश्चिकेतत् ।

गम्भीराय रक्षसे हेतिमस्य द्रोघाय चिद्वचस आनवाय ॥^५

१. ऋग्वेद—१०।७।१२

२. ऋग्वेद—५।१२।५

३. ऋग्वेद—१०।२३।५

४. ऋग्वेद—७।९।६

५. ऋग्वेद—६।६२।९

अर्थात्—जो मनुष्य समस्त लोक के राजा, इन अश्विनीकुमारों की समय के अनुसार परिचर्या करते हैं, उनको मित्र और वरुण जानते हैं। ऐसे वे सेवक महाबली राक्षसों के ऊपर घातक अस्त्र फेंकते हैं क्योंकि ये राक्षस मनुष्यों के सम्बन्ध में द्रोह पैदा करने वाली वाणी का प्रयोग करते हैं।

इसी प्रकार दशम् मण्डल के निम्न मन्त्र में वाचिक हिंसा का सुन्दर एवं स्पष्ट वर्णन किया है—

“यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः।

मन्योर्मनसः शरव्या जायते या तथा विध्य हृदये यातुधानान् ॥”^१

अर्थात्—आज जब स्त्री-पुरुष झगड़ा कर रहे हैं, स्तोता परस्पर कटुवचन का प्रयोग कर रहे हैं, ऐसी स्थिति में क्रोध उत्पन्न होने पर तुम्हारे मन के पास से जो वाण उत्पन्न होता है, उससे राक्षसों को मार। इस मन्त्र से यह भाव व्यक्त होता है कि अभद्र वाणी का प्रयोग देवता को प्रिय नहीं। यहाँ पर ऋषि का मन्तव्य है कि स्त्री, पुरुषों के कलह करने एवं कटुभाषण करने पर देवता की जो शक्ति क्रोध-स्वरूप उन स्त्री पुरुषों पर व्यय हो रही है वह राक्षसों पर व्यय हो। अतः परस्पर कलह एवं अपभाषण न करें। प्रकारान्तर से यहाँ दुष्ट, निन्दायुक्त भाषण का निषेध किया है।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के निम्न मन्त्र में दृष्टान्त के द्वारा वाचिक अहिंसा के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट किया है—

“मा वो धनन्तं मा शपन्तं प्रति वोचे देवयन्तम्।

सुमनैरिद्व आ विवासे ॥”^२

“चतुरश्विदददमानाद्विभीयादा निधातोः।

न दुरुक्ताय स्पृह्येत्” ॥^३

यहाँ पर भाव यह है जैसे कोई चतुर पुरुष जुआ खेलते हुए, पासा किसके पास जाएगा, यह सोचकर डरता है वैसे ही मैं दुष्ट भाषण से डरता हूँ, तथा देवों की कामना करता हुआ मुझ यजमान

१. ऋग्वेद—१०।८७।१३

२. ऋग्वेद—१।४१।८

३. ऋग्वेद—१।४१।९

की जो शत्रु हिंसा करना चाहता है उसके प्रति भी दुष्ट निन्दायुक्त भाषण करने से डरता हूँ और आपकी सेवा में रत रहना चाहता हूँ ।

उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि वेदकालीन ऋषि परुषभाषी को निन्दा की दृष्टि से देखते थे और ऐसे दुष्टों को ईश्वर से दण्ड देने की प्रार्थना करते थे । ऐसी प्रार्थनाओं में प्रकारान्तर से अहिंसा भावना ही अभिव्यक्त हुई है ।

कायिक अहिंसा

वस्तुतः अहिंसा का स्वरूप निषेधात्मक है । हिंसा का अभाव ही अहिंसा है । अतः अहिंसा की चर्चा करने से पहले हिंसा का वर्णन करना नितान्त आवश्यक है । ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ आदि तामसी वृत्ति के अधीन होकर किसी को शारीरिक कष्ट देना, अंग-भंग करना, प्राण हरण करना कायिक हिंसा का क्षेत्र है । हिंसा में तीन क्षेत्र महत्त्वपूर्ण हैं—१. हिंस्य—जिसकी हिंसा होती है, २. हिंसक—जो हिंसा करता है, तथा ३. हिंसा के कारण । इन तीनों तथ्यों के समावेश से हिंसा की स्थिति उत्पन्न होती है और हिंसक हिंसा करने की ओर उन्मुख होता है ।

इसके विपरीत हिंसा का अभाव अथवा निवारण ही “अहिंसा” है । मानसिक, वाचिक, कायिक रूप से किसी को भी पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है । कायिक अहिंसा के अन्तर्गत “अहिंसा” का साक्षात् सम्बन्ध शरीर से होता है । सामान्य रूप से शरीर के अंग-विशेष से किसी के शरीर को पीड़ा न पहुँचाना कायिक अहिंसा है ।

ऋग्वेद में कतिपय ऐसे स्थल आए हैं जहाँ शारीरिक हिंसा वर्जित की गयी है । शारीरिक हिंसकों के लिए अत्रिणः^१, रिपुः^२, रिषः^३, यातुधान^४, राक्षस^५ आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं । इन्हें महापापी कहा गया है । ज्ञान से द्वेष करने वाले, यज्ञ न करने वाले, सत्कर्म न करने

१. ऋग्वेद—१।२।१।५, १।३।६।१४

२. वही १।३।६।१६

३. वही ६।६।३।२

४. वही ७।१०।४।१५, १६, २४

५. वही ७।१०।४।४, २१

वाले, कच्चा मांस खाने वाले एवं निरन्तर द्वेष करने वाले हिंसक कहे गए हैं।^१ ऋग्वैदिक ऋषि अपने आराध्य देवों से प्रार्थना करते हुए कतिपय मन्त्रों में ऐसे हिंसकों से रक्षा के लिए प्रार्थना करता है। इन्द्र-वरुण से प्रार्थना की गयी है कि बलवान शत्रुओं द्वारा हमारी भ्रमणशील प्रजाएँ हिंसित न हों।^२ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में इन्द्र से स्तुति करते हुए कहा गया है—हे इन्द्र ! विरोधी मनुष्य हमारे शरीरों से द्रोह न करें। हे समर्थ इन्द्र ! वैरियों द्वारा सम्पादित वध को हमसे दूर करो।^३ सप्तमू मण्डल में भी इन्द्रसोम से राक्षसों के वध करने की प्रार्थना की गयी है।^४

यद्यपि अहिंसा के विषय में ऋग्वैदिक ऋषि का दृष्टिकोण आत्म-केन्द्रित है तथापि इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता कि उन्होंने स्वहित एवं परहित के लिए अपने आराध्य देवों से प्रार्थना करते हुए कतिपय ऐसे मन्त्रों की रचना की है जिनमें अहिंसा का भाव स्पष्ट रूप से प्रकट हो रहा है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ही रुद्र से प्रार्थना करते हुए ऋषि कहता है कि हम हवि लेकर आपका आवाहन करते हैं। हे रुद्र ! हमारे बड़ों का वध न करें, न ही हमारे छोटों का वध करें, हमारे माता, पिता का भी वध न करें। इस तरह वध अर्थात् शारीरिक हिंसा न करने की प्रार्थना की है।^५ ऋग्वेद का स्पष्ट सन्देश है कि स्तोता न कभी दूसरों से हिंसित हों न स्वयं दूसरों की हिंसा करें।^६ ऋग्वेद में वर्णित कायिक अहिंसा का एक पक्ष आत्मकल्याणार्थ प्राणियों को शारीरिक पीड़ा न पहुँचाना भी है। षष्ठ मण्डल में पूषन् से प्रार्थना करते हुए वैदिक साधक कहता है कि व्याघ्रादि हिंसक पशुओं द्वारा हमारा गो धन नष्ट न हो। अहिंसित (अवध्य) गौओं के साथ आप सायंकाल में आओ। ऋग्वेद में गो के लिए “इयं

१. ऋग्वेद—६।५२।३. ७।१०४।२

२. वही ३।६२।१

३. वही १।५।१०

४. वही ७।१०४।४, ७

५. वही १।११४।७-८

६. वही ७।३२।९

अधन्या” विशेषण कई बार प्रयुक्त हुआ है जो इसकी अहिंस्यता को द्योतित करता है।^१ इसी प्रकार द्वितीय मण्डल में—

माभ्यां गाः अनु शिश्रथः

अर्थात्—तू हमारी गाय को मत मार।^२ ऋग्वेद में कई ऐसे स्थल हैं जहाँ पर गायों को अवध्य कहा गया है तथा गो मांस का निषेध किया गया है।^३ गो के प्रति कोमल एवं रक्षापरक भावना प्राणियों के प्रति अहिंसाभाव को दर्शाती है।^४ ऋग्वेद में कहा गया है कि जो अधन्या गाय को चोट पहुँचाता है अथवा उसका दूध नष्ट करता है, उसका शिरोच्छेदन कर देना चाहिए।^५ किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि मात्र गो विशेष के लिए ही अहिंसापरक भाव था, अपितु समस्त द्विपदों एवं चतुष्पदों के लिए कल्याण की भावना विद्यमान थी। ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल में कपिंजल पक्षी विशेष को सम्बोधित करके कहा है—हे पक्षी ! तुम्हें बाज और गरुड़ पक्षी न मारें तथा धनुषधारी (शिकारी) तुम्हें प्राप्त न कर सकें।^६ वैदिक ऋषि की इन्द्र देव के प्रति की गयी यह स्तुति, कि आप रक्षा करने वाले हैं; अतः प्राणियों के वध की इच्छा न करें, प्राणियों के प्रति अहिंसापरक दृष्टिकोण का परिचायक है।^७

सह-अस्तित्व की साधना

वैदिक काल में प्राणिमात्र को भी मित्र की दृष्टि से देखने का उल्लेख प्राप्त होता है—

“मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणिभूतानि समीक्षे।”

यहाँ तक कि मन से भी किसी प्राणी के अहित का विचार करना

१. ऋग्वेद—१।१६४।२७, ७।८४।४, ८।१०२।१९, ७।६८।९, १०।१०।११, ८।७५।८
२. वही ४।३२।२२
३. वही ८।७।२५, ८।३।१५, ६।७०।३
४. वही १०।६०।११
५. वही १०।८७।१६
६. वही २।४।२।२
७. वही ५।४।४ २

निन्दित माना गया है किन्तु ऋग्वेद का आद्योपान्त अध्ययन करने पर ऐसे भी सन्दर्भ प्राप्त होते हैं जिनमें सह-अस्तित्व के लिए हिंसा की, आततायी के वध की एवं दण्ड-विधान की अनिवार्यता अभिव्यक्त हुई है। अतः उन सन्दर्भों के औचित्य का विश्लेषण करना यहाँ पर समीचीन प्रतीत होता है।

ऋग्वेद के छठें मण्डल में कहा गया है कि “हे देव ! भेड़िए के समान आचरण करने वाले राक्षसों का वध करो”^१ अग्निदेव से भी हिंसकों एवं द्वेष करने वाले को मारने की प्रार्थना की गयी है।^२ इसी प्रकार गायों को यातना देने के सम्बन्ध में एक वर्ष तक गो दुग्ध न पीने का दण्डविधान है। यदि वह दूध पीने का प्रयत्न करे तो दण्ड-स्वरूप उसके मर्मस्थल को बीधने का निर्देश दिया गया है।^३ गो-चोर को भी कठोर दण्ड देने का विधान है।^४

ऋग्वेद में कतिपय स्थलों पर कहा गया है कि हिंसक की हिंसा करना हिंसा नहीं अपितु अहिंसा का ही रूप है। प्रस्तुत मन्त्र में इन्द्र की स्तुति करते हुए कहा गया है कि इन्द्र अपने भक्तों के हिंसकों का संहार करें

‘स दुह्वणे मनुष ऊर्ध्वसान आ सा विषदर्शसानाय शरुम् ।
न नृतमो नहुषो स्मत्मुजातः पुरो भिनर्दहन दस्युहृत्ये ॥’^५

इसी प्रकार दशम् मण्डल के एक अन्य मन्त्र में दुष्टों की हिंसा करने की प्रार्थना की गयी है; क्योंकि दुष्टों के विनाश से ही हिंसा का नाश होता है—

“अव स्म दुर्हणायतो मर्तस्य तनुहि स्थिरम् ।
अथस्पदं तमीं कृधि यो अस्मां आदिदेशति ॥”^६

१. ऋग्वेद—६।५।१।१४

२. वही ८।४।३।२६

३. वही १०।८।७।१७

४. वही ७।१०।४।१०

५. वही १०।९।१।७

६. वही १०।१३।४।२

अर्थात्—दुष्टतापूर्वक आघात पहुँचाने वाले मनुष्य के बल को नीचे गिरा दो तथा जो शस्त्र से हमारी हिंसा करना चाहता है उस दुष्ट को पैरों के नीचे दबा लो, अर्थात् वध करो। सप्तम मण्डल के सम्पूर्ण १०४वें सूक्त में राक्षसों की हिंसा करने की प्रार्थना की गयी है जो हिंसा निवारण के लिए अत्यन्त आवश्यक है।^१

ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक मन्त्र में आततायी के वध द्वारा स्तोताओं की रक्षा करने की ध्वनि प्रस्फुटित होती है—वागाम्भृणी कहती है कि, मैंने ही त्रिपुर विजय के समय शिवजी के धनुष को प्रत्यंचा युक्त किया था। मैं ही स्तोताओं के लिए शत्रुओं के साथ युद्ध करती हूँ और मैं ही द्यावा पृथिवी को व्याप्त करती हूँ।^२ इस मन्त्र में अहिंसा के लिए युद्ध करने की बात कही गयी है। ऋग्वेद में अनेक ऐसे स्थल उपलब्ध होते हैं जहाँ युद्ध करना धर्म का अंग माना गया है। गोधन की रक्षा के लिए युद्ध करना आर्यों का प्रमुख कर्तव्य था। गौओं के लिए युद्ध में लड़ने वाले वीरों की सर्वत्र स्तुति की गयी है—

“नकिरेषां निन्दिता मर्त्येषु ये अस्माकं पितरो गोषु योधाः।”^३

हमने अनेक स्थलों पर क्रोध को हिंसा की जननी कहा है, किन्तु किन्हीं विशेष सन्दर्भों में क्रोध का औचित्य भी होता है। जैसे, यदि क्रोध शत्रु पर किया जाय तथा वह मुनि के समान मननपूर्वक एवं विचारयुक्त हो तो वही क्रोध हिंसानाशक भी हो जाता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहा गया है, कि स्त्री-पुरुष के झगड़ते समय, स्तोता लोगों के वाक् कलह के समय आप जो क्रोधित होकर बाण छोड़ते हैं उन बाणों से राक्षसों को मारें। इसमें दो बातें स्पष्ट हैं, एक तो उपर्युक्त विशिष्ट स्थितियों में कुपित होने का औचित्य और क्रोध के पीछे हिंसकों के हनन रूप शुभ उद्देश्य का भाव तथा दूसरा, आततायी राक्षसगण के वध की प्रार्थना। किन्तु इसमें हिंसाभाव नहीं है, क्योंकि अहिंसा की रक्षा के लिए हिंसा की

१. ऋग्वेद—७।१०४ सम्पूर्ण

२. वही १०।१२५।६

३. वही ३।३९।४

जा रही है।^१ षष्ठ मण्डल में सोम से दुष्ट व्यवहार करने वाले भेड़िए के समान राक्षसों का वध करने की प्रार्थना की गयी है जिसे समाज में अवाञ्छित तत्त्व के रूप में जाना जाता है। अतः समाज की सुख शान्ति हेतु ऐसे असामाजिक तत्त्वों का विनाश अपरिहार्य और अहिंसा सिद्धान्त की स्थापना के लिए आवश्यक है।

आत्मकल्याणार्थ अहिंसा को साधना

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक अहिंसा आत्मकल्याणपरक है तथा उसमें आत्म-रक्षा की भावना प्रमुख रूप से विद्यमान है। अहिंसा की इस अवधारणा के पीछे वैदिक ऋषियों का यही मन्तव्य रहा होगा कि, जो व्यक्ति आत्मरक्षा करने में समर्थ नहीं है वह पर रक्षा कैसे कर सकता है। अतः ऋग्वेद में स्थल-स्थल पर वैदिक ऋषि आत्मकल्याण एवं आत्मरक्षार्थ विभिन्न देवताओं की स्तुति करते थे; किन्तु इससे यह कदापि नहीं व्यंजित होता है कि वैदिक ऋषि अति संकीर्ण विचारधारा के थे। यह कहा जा सकता है कि उनकी अहिंसा सिद्धान्त में आत्मार्थ से परमार्थ की ओर उन्मुख होने की भावना प्रमुख थी। इसीलिए हिंसकों से अपने जीवन की रक्षा करने की प्रार्थना देवी देवताओं से की गई है। उदाहरण के लिए अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि जो हमें मारने की इच्छा करता है उन शत्रुओं से तथा राक्षस एवं हिंसकों से हमारी रक्षा करो -

“पाहि नो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेररावणः।

पाहि रीषत उत व जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य ॥”^२

इस मन्त्र में सायण ने “धूर्तेः” का “हिंसकात्” तथा “रक्षसः” का “बाधकाद्राक्षसादेः” अर्थ लिया है। इसी तरह ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल में वरुण से प्राणरक्षा की प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि हे वरुण ! हमें हननसाधनभूत आयुधों से मत मारो तथा हमारे जीवन की रक्षा के लिए हिंसकों से हमें पृथक् करो, जो बन्धु अथवा मित्र मुझ भयभीत को डराने वाले शब्द कहें या कोई स्तेन या भेड़िया हिंसा करने की

१. ऋग्वेद—१०।८७।१३

२. वही १।३६।१५

इच्छा करे तो उससे हमारी रक्षा करो ।^१

द्वितीय मण्डल के ३४वें सूक्त में “मरुत्” देवता से वृक के समान क्रूर हिंसक से रक्षा करने के लिए उसके वध की प्रार्थना की गयी है ।^२ इसी तरह अनेक ऋचाओं में हिंसकों से रक्षा करने की प्रार्थना वर्णित है ।^३

ऋग्वेद के एक मन्त्र में आत्मरक्षार्थ एक सुन्दर उपमा का प्रयोग करते हुए स्तोतागण अश्विनदेव से प्रार्थना करते हैं कि, जिस तरह से कुते विघ्नकारियों से रक्षा करते हैं उसी प्रकार आप अहिंसक होकर हमारे शरीर की रक्षा करें ।

“नात्रेव नः पारयतं युगेव नभ्येव न उपधीव प्रधीव ।

श्वानेव नो अरिषण्या तनूनां खृगलेव विस्रसः पातमस्मान् ॥”^४

पंचम मण्डल में स्तोता, अग्नि से समस्त संकटों से पार ले जाने की प्रार्थना करता है और शत्रुभूत मनुष्यों को दूर हटाने की प्रार्थना करता है ।^५ इसी सूक्त के अगले मन्त्र में स्वयं को निन्दकों एवं हिंसकों को न सौंपने की प्रार्थना की गयी है ।^६ सप्तम मण्डल में वीर मरुद्गणों से प्रार्थना की गयी है, कि वे द्रष्टा शत्रुओं को दूर से ही हमसे पृथक् कर दें एवं कल्याण सम्पदाओं से हमारी रक्षा करें ।^७ वैदिक ऋषियों का कहना है कि जो राक्षस हमारे अन्न को नष्ट करते हैं, अश्व, गाय, एवं हमारे शरीरों को नष्ट करते हैं वे बाधकस्तेन एवं धन-अपहर्ता—सभी नाश को प्राप्त हों और वे बाधक अपने शरीर व पुत्रों से हीन हो जाएं ।^८

ऋग्वेद में मात्र जीवन रक्षा के ही लिए नहीं, अपितु पाप से भी

१. ऋग्वेद—२।२८।७, १०

२. वही २।३।१९

३. वही २।३।५।६, २।३।७।३, ७।३।२।५, १०।२।२।१।५

४. वही २।३।१।४

५. वही ५।३।१।१

६. वही ५।३।१।२

७. वही ७।५।९।६

८. वही ७।१०।४।१०

रक्षा की अनेक प्रार्थनाएँ प्राप्त होती हैं। ऋग्वेद के सातवें मण्डल का सम्पूर्ण ३४वाँ एवं ३५वाँ सूक्त आत्मकल्याण एवं शान्ति प्रदान करने की प्रार्थना से ओत-प्रोत है। ऋग्वेद के पंचम मण्डल के ५१वें सूक्त के मन्त्र ११ से लेकर १५ तक सभी ऋचाओं में अश्विनदेव, देवी अदिति, पूषा आदि सभी देवताओं से ऋषि ने आत्मकल्याण की कामना की है। इसी प्रकार सर्गाहित की कामना का भाव भी पाँचवें सूक्त के मन्त्र १ से ४ में अनुस्यूत है।

अतः हम देखते हैं कि वैदिक ऋषियों के अहिंसापरक स्तुतियों के मूल में आत्मकल्याण की भावना ही प्रमुख रूप में विद्यमान है। “अहिंसा” मार्ग के अनुयायियों का प्रमुख उद्देश्य भी आत्मकल्याण ही होता है। वस्तुतः हिंसा करने वाला व्यक्ति या आततायी दूसरे का अनिष्ट करने से पहले अपना ही अनिष्ट करता है, हृदय में हिंसा का विकार उत्पन्न करके पतनोन्मुख हो जाता है और दूसरों को अपना शत्रु बना लेता है। इस प्रकार वह अपनी ही हिंसा करता है। इसके विपरीत यदि कोई अहिंसा सिद्धान्त का व्यवहार करता है, तो विकार-रहित हृदय से समस्त प्राणियों को समभाव या समदृष्टि से देखता है और ऐसी स्थिति में शत्रुभाव के स्थान पर विश्वबन्धुत्व की भावना स्थापित होती है। सम्भवतः अहिंसा के समग्र स्वरूप को ध्यानस्थ करके ही प्रथम मण्डल में कहा गया है—

“प्रति भद्रं भद्राय”

अर्थात्—जो मनुष्य दूसरे का कल्याण करते हैं, उनके प्रति भी कल्याण की भावना होती है। अहितकारियों का कभी कल्याण नहीं होता।

उपसंहार

ऋग्वेद के समग्र अध्ययन से ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक यज्ञों में पशुबलि का विधान था, किन्तु पशुबलि की प्रक्रिया एवं उद्देश्य के विषय में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि यज्ञों में पशुबलि होती थी और कुछ विद्वानों की मान्यता है कि उनकी प्रतीकात्मक बलि चढ़ाई जाती थी।^१ कुछ भी हो, इतना तो निश्चित ही है कि

१. युधिष्ठिर मीमांसक-वैदिक सिद्धान्तमीमांसा, पृ० ३५४-३६९

यज्ञीय पशुबलि का उद्देश्य प्राणिहिंसा मात्र नहीं था। ये यज्ञकर्ताओं के साध्य नहीं अपितु साधन थे जिनके माध्यम से ऐहिक और लोकोत्तर सुख की कामना की जाती थी। उनका उद्देश्य सामूहिक भोज नहीं होता था अपितु उसे धार्मिक कृत्य माना जाता था जिसके मूल में लोकोत्तर सुख की भावना प्रमुख थी। इसके साथ ही वैदिक ऋषियों की यह मान्यता भी थी कि, यज्ञ में बलि दिये जाने वाले पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वास्तव में पशुबलि देना ही उनका उद्देश्य नहीं था, वह तो मात्र साधन था जो साध्य कल्याण की भावना और बृहत्तर अभ्युदय की भावना पर केन्द्रित था।

ऋग्वेद में कतिपय ऐसे भी संकेत प्राप्त होते हैं जिनमें यज्ञों के हिंसा रहित होने के उल्लेख हैं। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर यज्ञ के लिए “अध्वर” शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ सायण ने “हिंसारहित” लिया है। उदाहरणतया ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में “अग्नेयं यज्ञमध्यवरं” में “अध्वर” का अर्थ “हिंसारहित” किया है।^१ “अध्वर” शब्द का मुख्यार्थ है—“यत्रध्वरा न भवति”

‘ध्वरति वधकर्मा तत्प्रतिपेधो ध्वरः’ अर्थात् ध्वरति का अर्थ वधकर्म है तथा उसका प्रतिषेध “अध्वर” है।^२ यदि जहाँ हिंसा नहीं होती मात्र यही अर्थ लिया जाय तो हिंसारहित सारे ही कर्मों को “अध्वर” कहा जाएगा, परन्तु सामान्यतः वैसा न कहा जाकर यह “अध्वर” शब्द यज्ञ का वाचक माना जाता है। ऐसा भी नहीं कह सकते कि पहले यज्ञ में हिंसा होती रही हो और हिंसा बन्द करने के बाद यज्ञ को “अध्वर” कहा गया हो, क्योंकि “अध्वर” शब्द विशेषकर पशुयज्ञ के लिए ही प्रयुक्त होता है। अतः यही अर्थ सुसंगत प्रतीत होता है कि जहाँ हिंसा नहीं होती वह “अध्वर” है।

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल में यज्ञ के लिए “अयातुः ऋतेन” संज्ञा प्रयुक्त हुई जिसका अर्थ सायण ने “अहिंसक यज्ञ” किया है। इस मन्त्र में यही भाव व्यंजित है कि यज्ञ में हिंसारहित कर्म होते थे। अग्नि को सम्बोधित करते हुए उन देवताओं की स्तुति की है जो अहिंसादि

१. ऋग्वेद—१।१।४

२. निरुक्त—१।३।८

नियमों से युक्त यज्ञ के द्वारा मनोरथ को पूर्ण करने वाले हैं।^१ इसी प्रकार ऋग्वेद के दशम् मण्डल में यज्ञ को, हिंसकों का नाशक मानकर “अन्तकधुक” संज्ञा दी गयी है।^२ प्रथम मण्डल में अग्नि की स्तुति करते हुए उसे “अध्वराणाम् रथो” कहा है, अर्थात् हिंसा, कुटिलता, कपट आदि कर्मों को न करने के कारण ये श्रेष्ठ हैं। सायण ने इसकी टीका की है कि, वह अग्नि (देव) हिंसायुक्त कामों में कभी भी हिंसा नहीं लेता और हिंसारहित काम करने वाले को वह उत्तम सामर्थ्य और यशयुक्त धन देता है।^३

ऋग्वेद के दशम् मण्डल में यज्ञ में किये जाने वाली पशु बलि का निषेध किया है। निम्न मन्त्र से इस तथ्य पर और अधिक प्रकाश पड़ता है —

“ऋव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः ।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥”^४

अर्थात्—मांस खाने वाले अग्नि को दूर हटाता हूँ। पापवाहक अग्नि यमराज के अन्य प्रदेशों में जाएँ। इन दोनों से पृथक् सर्वज्ञ अग्नि देवार्थ हवि ले जाएँ।

इसी मण्डल के १०वें मन्त्र में भी समान भाव दृष्टिगोचर होता है—

“यो अग्निः ऋव्यात्प्रविवेश वो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम् ।
तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स धर्ममिन्वात्परमेसधस्थे ॥”^५

अर्थात्—जो मांसभक्षक अग्नि तुम्हारे गृहों में प्रविष्ट हैं, उन्हें मैं घर से दूर करता हूँ। क्योंकि पितृयज्ञ के लिए इससे भिन्न दूसरी अग्नि जातवेदस है। यह उत्कृष्ट स्थान में स्थित अग्नि यज्ञ को प्राप्त करे।

वस्तुतः ऋग्वेद में हिंसा के विधेयात्मक तथा निषेधात्मक दोनों

१. ऋग्वेद—७।३।४।८

२. वही १०।१३२।४

३. वही १।४।४।२

४. वही १०।१६।९

५. वही १०।१६।१०

पक्ष मिलते हैं। प्रश्न यह नहीं है कि ऋग्वेद में हिंसा होती थी अथवा नहीं। प्रश्न यह है कि जो हिंसा होती थी, उसमें ऋग्वैदिक ऋषि का नैतिक पक्ष दृष्टिगोचर होता था अथवा नहीं। इस दृष्टि से ऋग्वेद का अध्ययन करने पर हमें दो तथ्य उपलब्ध होते हैं—

१. ऋग्वैदिक ऋषियों ने वहाँ हिंसा का निषेध नहीं किया जहाँ हिंसा करणीय है।
२. जहाँ हिंसा नहीं करनी चाहिए वहाँ निषेध किया। कहाँ हिंसा करनी चाहिए और कहाँ नहीं करनी चाहिए इसका विवेक ऋग्वैदिक ऋषियों को था।

वे कभी भी निरीह प्राणियों की हिंसा की बात नहीं सोचते थे। उनकी दृष्टि में जो हितावह हो, निरीह हो, जो अपने लिए उपयोगी हो, वह सदा सर्वदा रक्षा के योग्य होता है, चाहे उसके उपयोग की शक्ति नष्ट ही क्यों न हो गयी हो। जैसे गाय सदैव “अधन्या” है चाहे वह दूध देती हो अथवा न देती हो। दूसरी ओर आतताइयों, शत्रुओं, यज्ञ में बाधा पहुँचाने वाले राक्षसों की हिंसा के स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद में मिलते हैं। वे देवताओं से उनकी हिंसा की प्रार्थना करते थे जिसमें उनकी आत्मरक्षा की भावना ही प्रमुख थी। यज्ञों में पशुबलि के पीछे भी यही भाव निहित था कि हम शक्ति प्राप्त करें, क्योंकि युद्ध करने के लिए तथा हिंसकों से बचने के लिए शक्तिप्राप्ति अनिवार्य थी। अतः कहा जाता है कि “वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।”

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि ऋग्वेद में अहिंसा का प्रस्तुतीकरण सैद्धान्तिक रूप में भले ही न हुआ हो किन्तु व्यावहारिक रूप से वैदिक ऋषियों को हिंसा-अहिंसा का विवेक था। ऋग्वेद में इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उस काल के संघर्षमय जीवन की मान्यताओं में जहाँ हिंसा के लिए द्वार मुक्त था, वहाँ कहीं न कहीं ऋषियों के अन्तःकरण में अहिंसा भावना भी विश्राम कर रही थी। ●

रिसर्च एसोसिएट,
संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद।

जैन आगमों में वर्णित जातिगत समता

—डॉ० इन्द्रेश चन्द्र सिंह

जैन धर्म उस श्रमण-परम्परा का धर्म है जो मूलतः वर्ण-व्यवस्था और जातिगत ऊँच-नीच की भावना का विरोधी थी। जैन धर्म में जन्मगत आधार पर न तो किसी को उसमें प्रवेश से वंचित किया जाता था और न ही उसे निम्न माना जाता था। हरिकेशी जैसे चाण्डाल का सम्मानपूर्वक उल्लेख और जातिगत ऊँच-नीच की अवधारणा का खण्डन हमें प्राचीन स्तर के जैन आगमों में उपलब्ध होता है। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन जैन धर्म में जातिवाद के आधार पर ऊँच-नीच की अवधारणा को कोई स्थान नहीं था।

यद्यपि प्राचीन जैन आगमों में आर्य एवं अनार्य तथा आर्यक्षेत्र और अनार्यक्षेत्र की चर्चा हमें उपलब्ध होती है। जैन साधुओं का अनार्य क्षेत्र में विहार करना भी वर्जित माना गया था, किन्तु आर्य और अनार्य की ये अवधारणाएं मूलतः ऊँच-नीच की भावना को लेकर नहीं अपितु सभ्यता और संस्कृति के विकास के स्तर को लेकर थी अनार्य क्षेत्रों में मुनि का विहार इसलिये वर्जित था, क्योंकि उनका सांस्कृतिक विकास नहीं हुआ था और वे सामान्यतया जैन मुनियोंके आचार-व्यवहार से अपरिचित भी थे, इसके साथ-साथ उनका बौद्धिक विकास भी इस स्तर का नहीं था कि वे आध्यात्मिक साधना में सहज रूप से जुड़ सकें किन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि वे जैनों की दृष्टि में हेय थे। अनार्य क्षेत्रों में मुनि के विहार का निषेध उन सामान्य मुनियों के लिए किया गया था जो उन क्षेत्रों के कष्टों या परिषहों को सहन करने में असमर्थ थे। वैसे तो स्वयं भगवान् महावीर ने अनार्य क्षेत्र में विचरण किया था। इतना तो निश्चित है कि सैद्धान्तिक आधार पर जैन धर्म में सभी मनुष्यों को समान समझा गया और यह माना गया कि कोई भी व्यक्ति जैन धर्म में प्रवेश की योग्यता रखता है।

प्राचीन जैन ग्रन्थों से हमें यह संकेत मिलते हैं कि उस काल में जैन धर्म के द्वार सभी जातियों और वर्गों के लिए खुले हुए थे। मथुरा के अभिलेखों से भी यही सिद्ध होता है कि लुहार, सुनार, तेली, नाविक यहाँ तक कि वेश्या और नर्तक भी जैन धर्म का पालन करते थे तथा जिन मन्दिर और जिन प्रतिमाएं स्थापित करवाते थे।

कालान्तर में जब भारतीय समाज में वर्ण और जाति को लेकर ऊँच-नीच की भावनाएं दृढ़ हो गईं और कुछ जातियों को नीच और अपस्पृश्य मान लिया गया तो उसका प्रभाव जैन धर्म पर भी पड़ा और प्रकारान्तर से जैनों ने भी कुछ जातियों को जैन मुनि-दीक्षा और भिक्षा के अयोग्य मान लिया गया। सर्वप्रथम स्थानांग^१ में जैन मुनि दीक्षा के अयोग्य व्यक्तियों की चर्चा के प्रसंग में यह कहा गया है कि जुंगित अर्थात् जाति या पेशे से घृणित माने जाने वाले व्यक्ति को दीक्षा नहीं देना चाहिए। इसी प्रकार जहाँ प्राचीन स्तर के जैन ग्रन्थों में मुनि को उच्च, निम्न और मध्यम तीनों कुलों की भिक्षा ग्रहण करने के उल्लेख मिलते हैं वहीं परवर्ती साहित्य में विशेषकर चूर्णि आदि में कुछ कुलों को भिक्षा के अयोग्य मान लिया गया था। वस्तुतः यह सब बृहत्तर हिन्दू समाज के प्रभाव का परिणाम था और यह मुख्यतः इसलिए किया गया था कि जैन-मुनि समाज में घृणा का पात्र न बने अथवा उसे घृणित बताकर प्रचारित नहीं किया जा सके। यद्यपि यह जैनधर्म की मूल प्रकृति और श्रमण संस्कृति के विरुद्ध था किन्तु समवर्ती समाज का अनिवार्य प्रभाव था जिसे जैनों ने स्वीकार कर लिया था। आगे हम इसी प्रसंग में कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे।

निम्न जातियों का स्तर निर्धारण—

जैनग्रन्थोंमें निम्न जातियों के स्तर निर्धारण के कुछ प्रमुख आधार थे। इनमें सर्वप्रथम वे व्यक्ति जो घृणित मानी जाने वाली जाति में जन्म लेते थे, जाति जुंगित कहलाते थे, दूसरे कर्म जुंगित थे, जो अपने निम्न कोटि के कर्मों के कारण घृणित माने जाते थे। तीसरे वे थे, जो निम्न कोटि के शिल्पों का अनुसरण करने के कारण घृणित समझे जाते थे। वस्तुतः कर्मजुंगित और शिल्पजुंगित दोनों प्रायः पेशे के कारण ही घृणित समझे जाते थे।^१

हिंसक पेशेवर जातियाँ—

हिंसक पेशेवर जातियों के लोग विविध पशु-पक्षियों का शिकार करके अपनी उदरपूर्ति करते थे तथा उसका विक्रय करके धनार्जन करते थे। इनमें सूअर का शिकार करने वाले (सोयरिया), जल में से मछलियों को मारने अथवा पकड़ने वाले मच्छीमार (मच्छबन्धा), पक्षियों का शिकार करने वाले बहेलिए (साउणिया), व्याघ्र-हिरणों का शिकार करने वाले (वाहा), मधुमक्खियों से शहद एकत्रित करने वाले (महुधायी), चाण्डाल विशेष (कूडछेलियहत्था हरिएसा) तथा भील आदि वनचर (वणचरगा) उल्लेखनीय हैं^१। राजप्रश्नीयसूत्र में, उल्लेख है कि भीलुंगा नामक जाति के लोग द्विपदों, चतुष्पदों, मृगों एवं अन्य पशु-पक्षियों तथा सर्पों आदि के रक्त और मांस का सेवन करते हुए पापकर्मों में रत रहते थे^२।

म्लेच्छ—

जैन सूत्रों में म्लेच्छ जाति (मिलुक्ख)^३ का प्रयोग प्रायः उन हिंसक लोगों के लिए किया गया है, जो विविध तरीकों से जीवों को पकड़कर उनका आहार करते थे तथा उसीसे अपना जीविको-पार्जन करते थे। ये लोग आर्य जनपदों की सीमा पर निवास करते थे तथा विचित्र रीति-रिवाजों में संलग्न रहने के कारण आर्यों की दृष्टि में घृणा के पात्र समझे जाते थे^४। चाण्डाल, मातंग और श्वपाक घृणा एवं अपकीर्ति के पात्र थे क्योंकि वे भोज्य पदार्थों से सम्बन्धित-वर्जनाओं को नहीं मानते थे^५। ये लोग वीभत्स रूप वाले, काले, विकराल, बेडौल मोटी नाक वाले, अल्प एवं मलिन वस्त्र धारण किए, धूल-धूसरित होने से भूत की तरह दिखाई देने वाले, गले में संकरदूष्य अर्थात् कूड़े के ढेर पर से लाये गये निकृष्ट वसन धारण किये रहते थे^६।

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र, अ० १, पृ० ६७-६८।

२. राजप्रश्नीयसूत्र, २२६, पृ० १४७।

३. प्रश्नव्याकरणसूत्र, अ० १, पृ० ६८।

४. आचारांगसूत्र, २।३।४७१, पृ० १७५।

५. निशीथचूणि, ३, पृ० ५२७; व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र, १।३।१, पृ० २८३।

६. उत्तराध्ययनसूत्र, १२।६।

चाण्डाल —

जैन आगमों में चाण्डालों की बस्ती का उल्लेख है, इनसे सभी लोग घृणा करते थे^१। चाण्डालों को पापकर्म करने वाला, अत्यन्त भयानक एवं क्रूरकर्मा बताया गया है। चोरी और हत्या इनके लिए सामान्य बात थी^२। कहा गया है कि दुर्लभ मनुष्य जीवन पाकर भी आर्यत्व पाना दुर्लभ है क्योंकि मनुष्य होकर भी बहुत से लोग दस्यु और म्लेच्छ होते हैं^३। दुष्कर्मों के संचय के कारण व्यक्ति को अगले भव में मातंग (चाण्डाल) कुल में जन्म लेते हुए दिखाया गया है। ये कूटग्राही तथा मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों के सेवन में सम्बन्धों का विचार किये बिना ही (भाई-बहन के मध्य ही) संसर्ग करने वाले होते थे।^४ चाण्डाल शवों को फेंकने का कार्य करते थे^५। अतः ब्राह्मणों द्वारा इन्हें अदर्शनीय कहकर भगा दिया जाता था^६।

भिल्ल, डोंब, बोधित तथा लोहकार आदि जातियाँ —

इनमें भीलों के पास अपने किले होते थे जिसे भिल्लकोटि या भिल्लपल्ली कहा गया है।^७ ये असभ्य एवं जंगली लोग व्यापारियों एवं यात्रियों के लिए हमेशा खतरा बने रहते थे। डोंब जाति के लोग खुले मैदानों में रहते थे और हमेशा आपस में लड़ा करते थे। इनकी नियुक्ति हाथियों की देखभाल के लिए की जाती थी^८। वर्तमान में इस जाति को मद्रास में द्रम्ब और उत्तर प्रदेश, बिहार एवं बंगाल में डोंब के नाम से जाना जाता है^९। बोधितों का निवास स्थान मालव प्रदेश के आसपास बताया गया है। ये लोग पेशे से चोर या डाकू

१. उत्तराध्ययनसूत्र, १३।१६, पृ० १२४

२. ज्ञाताधर्मकथासूत्र, १।२।६, पृ० ११०

३. उत्तराध्ययनसूत्र, १०।१६, पृ० ८६

४. विपाकसूत्र, पृ० ६३-६४

५. अन्तकृतदशांगसूत्र, ३।२६, पृ० ८८

६. उत्तराध्ययनसूत्र, १२।७, पृ० १०७

७. निशीथचूर्णि, ४, पृ० १५१; १, पृ० १४४

८. वही, ३, पृ० २७०, ४३६

९. मधुसेन, ए कल्चरल स्टडी आफ निशीथचूर्णि, पृ० ८२

होते थे, जो लोगों का धन छीन लेते थे^१। इनके अतिरिक्त लोहकारों को भी कहीं-कहीं घृणा का पात्र माना गया है। यद्यपि इनसे सार्वभौम रूप से घृणा नहीं की जाती थी, पर दक्षिण भारत में इन्हें घृणा का पात्र समझा जाता था^२। जैन परम्परा में लोहकारों को पूरा सम्मान दिया गया है। मथुरा के अभिलेखों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि अनेक आयागपट्टों और जिन प्रतिमाओं का दान इनके द्वारा दिया गया था, अतः ये लोग समाज में सम्मानित माने जाते थे^३।

शिल्प के आधार पर निर्मित हीन जातियाँ—

जैन आगमों में कर्म अथवा शिल्प के आधार पर निन्दित समझे जाने वाले व्यक्तियों का भी वर्णन मिलता है^४। ये लोग विविध पेशों के आधार पर अपनी जीविका चलाते थे। इनमें नाटक करने वाले (नट), नृत्य करने वाले (नर्तक), रस्सी पर चढ़कर कलाबाजियाँ दिखाने वाले (जल्ल), पहलवानी करने वाले (मल्ल), पंजा लड़ाने वाले (मौष्टिक), विदूषक (बहुरुपिया), कथक (कथावाचक), पानी में तैरने वाले (प्लवक), उछल-कूद करने वाले, रास (स्वांग) रचने वाले, शुभाशुभ शकुन बताने वाले, ऊँचे बाँस पर चढ़कर कलाबाजी अथवा खेल करने वाले, चित्र दिखाकर भीख माँगने वाले, शहनाई बजाने वाले, तम्बूरा बजाने वाले और खड़ताल बलाकर जीविकोपार्जन करने वाले थे। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार^५ कुछ लोग लक्षण और स्वप्न विद्या के ज्ञाता थे, कुछ निमित्तशास्त्र और कौतुक कार्य में प्रवीण थे तथा कुछेक मिथ्या आश्चर्य को उत्पन्न करने वाली कूहेट विद्याओं (जादूगरी) के ज्ञाता थे। वे इन विद्याओं के माध्यम से अपनी जीविका अर्जित करते थे। इन्हें भी निम्न जातियों में गिना जाता था।

वर्णसंकर जातियाँ—

जैन ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में कतिपय वर्णसंकर जातियाँ भी विद्यमान थीं। आचारांग नियुक्ति में कुछ

१. निशीथचूर्णि, १, पृ० १००

२. निशीथ चूर्णि, ४, पृ० १३२

३. जैन शिलालेख संग्रह भाग २, अभिलेख संख्या, ३१, ५४, ५५

४. राजप्रश्नीयसूत्र, १, पृ० ३

५. उत्तराध्ययनसूत्र, २०।४५, पृ० २११

प्रमुख मिश्रित जातियों के संघटन का उल्लेख मिलता है^१। इनमें अम्बष्ठ (ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री के संयोग से उत्पन्न), उग्र (क्षत्रिय पुरुष एवं शूद्रा स्त्री), निषाद (ब्राह्मण पुरुष एवं शूद्रा स्त्री), अयोगव (शूद्र पुरुष एवं वैश्य स्त्री), मागध (वैश्य पुरुष एवं ब्राह्मण स्त्री), चाण्डाल (शूद्र-पुरुष एवं ब्राह्मण स्त्री), सूत (क्षत्रिय पुरुष एवं ब्राह्मण स्त्री), क्षत्ता (शूद्र-पुरुष एवं क्षत्रिय स्त्री), वैदेह (वैश्य पुरुष एवं ब्राह्मण स्त्री), श्वपक (उग्र पुरुष एवं क्षत्ता स्त्री), वैणव (विदेह पुरुष एवं क्षत्ता स्त्री), कुक्कस (निषाद पुरुष और अम्बष्ठ स्त्री) तथा कुक्कुरक (शूद्र-निषाद के संयोग से उत्पन्न) उल्लेखनीय हैं। स्थानांगसूत्र^२ में अम्बष्ठ, कुलन्द, वैदेह, हरित, वैदिक और चुंचुण का उल्लेख हुआ है। ग्रन्थ में इनकी विवेचना करते हुए आर्य एवं इभ्य बताया गया है। इभ्य उसे कहा जाता था, जिसके पास धनराशि इतनी ऊँची हो कि सूंड को ऊँचा किया हुआ हाथी भी न दिख सके। इभ्य की इस परिभाषा से इतना तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र जातीय माता की वैश्य से उत्पन्न संतान से इन इभ्य जातियों के नाम पड़े हैं। क्योंकि व्यापार करने वाले वैश्य सदा से धन-सम्पन्न रहे हैं^३।

भिक्षायोग्य कुल—

आचारांगसूत्र में भिक्षुओं के लिए भिक्षा-योग्य कुलों की चर्चा करते हुए उग्रकुल, भोगकुल, राजजन्यकुल, क्षत्रियकुल, इक्ष्वाकुकुल, हरिवंशकुल, गोपालादिकुल, वैश्यकुल, नापितकुल, बड़ई-कुल, ग्राम रक्षककुल और तन्तुवाय (बुनकर) कुलों से भिक्षा प्राप्त करने का निर्देश दिया गया है।^४ यद्यपि जैन श्रमण समता योगी होता है, जाँति-पाँति के भेदभाव, छुआ-छूत, रंग-भेद, सम्प्रदाय-प्रान्तादि भेद में उसका तनिक भी विश्वास नहीं होता, न वह इन भेदों को लेकर राग-द्वेष, मोह-घृणा या ऊँच-नीच व्यवहार करता है बल्कि शास्त्रों में जहाँ साधु के भिक्षाटन का वर्णन आता है, वहाँ स्पष्ट उल्लेख है—
“उच्चनीयमज्झिमकुलेसु अडमाणे”^५ अर्थात् उच्च, नीच और मध्यम.

१. जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० २२३

२. स्थानांगसूत्र, ६।३४-३४, पृ० ५४३

३. देखिए, स्थानांग, विवेचन पृ० ५४३

४. आचारांगसूत्र, २।१।३३६, पृ० २३

५. वही विवेचन पृ० २३

कुलों में भिक्षाटन करता हुआ। यहाँ उच्च, नीच, मध्यम कुल का जाति-वंश परक या रंग-प्रान्त-राष्ट्रादिपरक अर्थ न करके जैनाचार्यों ने सम्पन्नता-असम्पन्नता परक अर्थ ही किया है। अगर उच्च-नीच या किसी प्रकार का भेद-भाव, आहार ग्रहण करने के विषय में करना होता तो शास्त्रकार मूलपाठ में नापित, बढ़ई, तन्तुवाय आदि के घरों से आहार लेने का विधान न करते। भिक्षा के लिए निषिद्ध कुलों का स्पष्ट विभाजन परवर्ती ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। निशीथचूर्णि^१ में इन कुलों का विभाजन निम्नवत् है—

भिक्षा के लिए निषिद्ध कुल

लौकिक	लोकोत्तर	
इत्वरिक [जो काल विशेष के लिए भिक्षा हेतु निषिद्ध माने जाते हैं जैसे परिवार में प्रसव या मृत्यु आदि होने पर)	वसति से सम्बद्ध (अर्थात् गृह के क्रम के आधार पर) वसति से असम्बद्ध (मामा आदि का परिवार)	
यावत्कथिक [जो जीवन पर्यन्त के लिए निषिद्ध माने जाते हैं]		
कर्म जुंगित	शिल्प जुंगित	जाति जुंगित

जुंगित अथवा जुगुप्सित का अर्थ घृणित होता है, घृणा उन घरों में होती है, जहाँ खुलेआम मांस-मछली आदि पकाये जाते हों, मांस के टुकड़े, हड्डियाँ, चमड़ा आदि पड़ा हो, पशुओं या मछलियों आदि का वध किया जाता हो, जिनके बर्तन, घर, आँगन, कपड़े, शरीर आदि अस्वच्छ हों, ऐसे घर, चाहे वे क्षत्रियों के ही क्यों न हों उन्हें जुगुप्सित और घृणित होने के कारण साधुओं के लिए त्याज्य समझना चाहिए^२

१. निशीथचूर्णि, ४, पृ० २७९-८०

२. आचारांगसूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध, विवेचन पृ० २४

इसके साथ ही शास्त्रकार ने गर्हित—निन्द्य घरों की चर्चा करते हुए लिखा है कि, “जहाँ सरेआम व्यभिचार होता है, वैश्यालय हो, मदिरालय हो, कसाईखाना हो, जिनके आचरण गंदे हों, जो हिंसादि पापकर्म में ही रत हो, ऐसे घर भी भिक्षा के लिए त्याज्य हैं।”^१ जुगुप्सित और निन्दित लोगों के घरों से भिक्षा के लिए जाने से भिक्षु को स्वयं घृणा पैदा होगी, संसर्ग से बुद्धि मलिन होगी, आचार-विचार पर भी प्रभाव पड़ना सम्भव है, लोक-निन्दा भी होगी, आहार की शुद्धि भी न रहेगी और धर्मसंघ की बदनामी भी होगी।

जैनों का व्यावहारिक दृष्टिकोण—

जैन समाज की वर्तमान प्रवृत्ति एवं व्यवहार की ओर ध्यान न देकर यदि जैन मूल सिद्धान्तों को देखें तथा जैन शास्त्रों के उदाहरण संग्रह करें तो स्पष्ट ज्ञात हो जायेगा कि जैन धर्म दूसरे धर्मों की अपेक्षा उदार अधिक रहा है। भगवान् महावीर के शासन में शूद्रों को भी वही स्थान प्राप्त था जो किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य को हो सकता है। महावीर के शासन में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को जन्मगत आधार पर कोई महत्त्व ही नहीं दिया गया है। यहाँ तो स्पष्ट लिखा है कि—

कम्मुणा बम्भणो होई, कम्मुणा होई खत्तियो।

वइसो कम्मुणा होई, सुदो हवई कम्मुणा ॥

—उत्तराध्ययनसूत्र, अ० २५

अर्थात् कर्म से (आचरण-व्यवहार से) ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होते हैं (जन्म से कोई ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि नहीं होता)।

महावीर के शासन में जन्मगत जाति को तो गौण माना ही गया है, साथ ही यह भी बताया गया है कि यदि कोई शूद्र अपने आचार और व्यवहार को शुद्ध कर लेता है तो वह ब्राह्मणादि के समान हो जाता है। यथा—

“शूद्रोऽप्युपस्काराचारवपुःशुद्ध्यास्तु तादृशः।”

—सागरधर्मामृत २/२

जैनाचार्यों के अनुसार चाण्डाल को भी व्रत धारण करने से देवों ने ब्राह्मण कहा है। इससे स्पष्ट है कि कोई भी शूद्र, अस्पृश्य-शूद्र

१. वही

अथवा चाण्डाल भी व्रत धारण करके शुद्ध हो सकता है, ब्राह्मण के समान हो सकता है।

जैन शास्त्रों में ऐसे अनेकों प्रमाण एवं कथाएँ मौजूद हैं, जिनमें हीन समझी जाने वाली जातियों के समानाधिकार की चर्चा हुई है। भगवान् महावीर के शासन में किसी को कोई रोक-टोक नहीं थी, जिन शासन तो आत्मोद्धार के लिए था, इसलिए जिसकी आत्मा जितनी अधिक मलिन और पापयुक्त हो, उसे उतना ही अधिक धर्मसेवन करने का अवसर दिया गया था।

जैनाचार्य सोमदेव ने शूद्रों की शुद्धि के लिए निम्नलिखित तीन बातें कही हैं^१ — (१) आचरण की स्वच्छता, (२) गृह-पत्रादि की शुद्धि, (३) शरीर की स्वच्छता।

श्री समन्तभद्राचार्य के अनुसार^२ सम्प्रदृष्टि चाण्डाल भी देवमाना गया है, पूज्य माना गया है और गणधरादि द्वारा प्रशंसनीय कहा गया है। जैन ग्रन्थों में शूद्रों एवं अस्पृश्यों के प्रति विशेष उदारतापूर्ण उदारण मिलते हैं जिनसे स्पष्ट सिद्ध है कि कोई भी व्यक्ति जैनधर्म धारण कर सकता है, जैनधर्म में मानवमात्र समानाधिकारी हैं। प्रत्यक्ष में जातिगत कोई विशेषता नहीं होती, हाँ विशेषता तप में होती है; क्योंकि चाण्डाल पुत्र हरिकेशीबल मुनि दीक्षा ग्रहण कर तप से अद्भुत ऐश्वर्य और ऋद्धि को प्राप्त हुआ था^३। इसी प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर शास्त्रों में क्रमशः मेतार्य, हरिबल, अर्जुनमाली, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का पूर्व भव (चाण्डाल से मुनि) एवं सोमदत्त माली, अनंग सेवा वेश्या, ढीमर की पुत्री काणा, चामेक नामक वेश्या आदि उल्लेख है। जिन्होंने तप-आराधना पूर्वक संयमी जीवन व्यतीत किया।

१. “आचरणानवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देव-द्विजातिपस्विपरिकर्मसु योग्यान्।”-श्री सोमदेवाचार्य, नीतिवाक्यामृत ७।१२

२. “सम्प्रदर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।

देवा देवं विदुर्भस्मगूढागारान्तरौजसम् ॥

—रत्नकरणश्रावकाचार, श्लोक २८

३. “सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो न दीसइ जाइविसेस कोई।

सोवागपत्तं हरिएस साहुं जस्सेरिसाइट्ठि महाणुभागा।”

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १२

हरिवंशपुराण में हुए वर्णन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि भगवान् महावीर के शासन में प्रत्येक व्यक्ति को धर्मसेवन करने का समानाधिकार प्राप्त था। यहाँ नर-नारी, वेश-भूषा या शूदाशूद्र को लेकर धर्म के सेवन में कोई अन्तर नहीं आता। हरिवंश पुराण^१ की कथानुसार—श्री वसुदेव जी अपनी प्रियतमा मदनवेगा के साथ सिद्ध-कूट चैत्यालय की वन्दना करने गये, मन्दिर में कई चित्र-विचित्र लोगों को बैठा देखकर कुमार ने मदनवेगा से उनकी जाति के विषय में पूछा. तब मदनवेगा ने कहा—मैं इनमें से इन मातंग जाति के विद्याधरों का वर्णन करती हूँ—नीलमेघ के समान श्याम नीलीमाला धारण किये मातंगस्तम्भ के सहारे बैठे हुए ये मातंग जाति के विद्याधर हैं। मुर्दों की हड्डियों के आभूषणों से युक्त, राख के लपेटने से मटमैले श्मशान स्तम्भ के सहारे बैठे हुए वे श्मशान जाति के विद्याधर हैं। वैदूर्य मणि के समान नीले वस्त्रों को धारण किए हुए पाण्डुर स्तम्भ के सहारे बैठे हुए पाण्डुक जाति के विद्याधर हैं। काले-काले मृग चर्मों को ओढ़े काले चमड़े के वस्त्र और मालाओं को धारण किये हुए काले स्तम्भ का आश्रय लेकर बैठे हुए ये कालश्वपा जाति के विद्याधर हैं। यह सब यही सूचित करता है कि कोई भी जैनधर्म का श्रद्धालु जिन मन्दिर में जाकर बैठ सकता था और वहाँ धर्म श्रवण और धर्माराधन कर सकता था।

यद्यपि हम यह तो नहीं कह सकते कि जैन धर्म में व्यावहारिक रूप में जातीयता-भावना बिल्कुल नहीं थी, किन्तु इतना अवश्य कहेंगे कि जो थोड़े बहुत जातीय भावना के सन्दर्भ आगमों में आये हैं वे अन्य सम-कालीन परम्पराओं के प्रभाव के कारण हैं। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि सामाजिक उत्थान एवं जातिगत विषमता को दूर करने का जितना प्रयास जैन धर्म परम्परा में हुआ है, यह अन्यत्र दुर्लभ है।

१. हरिवंश पुराण सर्ग २६, श्लोक १४ से २२ तक।

शोध सहायक

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,
आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-५

आचारांग में अनासक्ति

(प्रथम श्रुतस्कंध के विशेष सन्दर्भ में)

डा० श्रीप्रकाश पाण्डेय

अतिप्राचीन काल से ही प्रवृत्तिमार्गी एवं निवृत्तिमार्गी दो धर्म-सरणियों का अस्तित्व रहा है। निःसंदेह धर्मधारा को इन दो प्रवाहों (प्रवृत्तिमार्गी और निवृत्तिमार्गी) में विभक्त करने में मानव में शाश्वत रूप से विद्यमान वासना और विवेक ही मूल कारक रहे हैं। वासना-त्मक संतुष्टि के लिए ऐहिक सुख अपेक्षित है। परिणामतः ऐहिक सुख को अभीष्ट मानने वालों के लिए समष्टिवादी किंवा समाजाभिमुख एवं कर्मकाण्ड प्रधान, विधायक दृष्टि वाली प्रवृत्तिमार्गी परम्परा का अवलम्बन अपरिहार्य था। दूसरी ओर विवेक, संयम और विराग की अपेक्षा रखता है। संयम के कारण ऐहिक सुखों के प्रति उपेक्षाभाव उत्पन्न होता है जिसकी परिणति सांसारिकता से विमुख निषेधात्मक दृष्टिप्रवण व्यष्टिवादी या एकाकीपन की ओर अभिमुख निवृत्तिमार्गी धारा में होती है। निवृत्तिमार्गी दैहिक आवश्यकताओं के प्रति उपेक्षा-भाव, संसार के प्रति निःसारता और दुःखात्मकता का भाव रखते हैं और अनासक्ति विराग और आत्मतुष्टि को ही सर्वोच्च जीवन मूल्य मानते हैं। निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा का जैनधर्म प्रतिनिधित्व करता है और स्वाभाविक रूप से दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति या मोक्षमार्ग को ही लक्ष्य मानता है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र्यरूपी त्रिरत्न को यहाँ मोक्ष प्राप्ति का साधन बताया गया। इसमें भी चारित्र्य या आचार पर सर्वाधिक बल दिया गया है।

मोक्ष-मार्ग साधना में आचार का महत्व इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि तीर्थङ्कर ने अर्थरूप में जिन आगमों का उपदेश किया है और जिसे गणधरों ने सूत्र रूप में निबद्ध किया है, उनमें श्रमण-साधना के निर्देशों एवं आचार नियमों का प्रतिपादन करने वाला ग्रंथ ही प्रथम स्थान रखता है। जैनदर्शन का वेद कहा जाने वाला आचारांग-शीर्षक ग्रन्थ दर्शन एवं अध्यात्म के प्रतिपादन के साथ श्रमणाचार

का प्रमुखता से विवेचन करता है। आचारांग-निर्युक्ति^१ में भद्रबाहु ने कहा है कि मुक्ति का अव्याबाध मुख आचार में है। अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, सत्य, समता, और अनासक्ति श्रमणाचार की धुरी हैं। प्रस्तुत निबंध में हम आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध में प्राप्त अनासक्ति सम्बन्धी तथ्यों का समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत करेंगे— जैन परम्परा में बन्धन के तीन मूलभूत कारण आसक्ति (राग) द्वेष और मोह माने गये हैं। उत्तराध्ययन सूत्र^२ में राग और द्वेष को कर्मबीज कहा गया है एवं इन दोनों का कारण मोह बताया गया है। राग और द्वेष में राग ही प्रमुख है। आचार्य कुन्दकुन्द ने राग को ही बन्धन का प्रमुख कारण मानते हुए कहा है कि आसक्त आत्मा ही कर्मबन्ध करता है और अनासक्त मुक्त हो जाता है, यही जिन भगवान् का उपदेश है, इसलिए कर्मों में आसक्ति मत रखो।^३ आसक्ति से प्राणी स्व से भिन्न या चेतना से इतर पर पदार्थों की प्राप्ति-अप्राप्ति, संयोग-वियोग, लाभ-अलाभ एवं सुख-दुःख की कल्पना करने लगता है। आसक्ति या राग ही कामना, वासना, मूर्छा, अहंकार, पराश्रयता, आकुलता, निर्दयता, संकीर्णता, स्वार्थ लोलुपता, आग्रह, संग्रहवृत्ति आदि विकारों की जननी है। आचारांग में आसक्ति, आग्रह और संग्रह वृत्ति के निराकरण के लिए अनासक्ति, अनाग्रह और अपरिग्रह के सिद्धान्तों का उपदेश किया गया है। विवेच्य ग्रन्थ में अनासक्तिभाव रखने हेतु निर्दिष्ट वस्तुओं में घर-परिवार, धन, स्त्री, विषयभोग वस्त्र-पात्र, शरीर, आहार और कर्म प्रमुख हैं।

१. निव्वाणस्स उ सारो अवावाहं जिणा विति ।

श्री भद्रबाहुस्वामिकृत्, आचारांग निर्युक्ति,—

श्री सिद्ध चक्र प्रचारक समिति, जैन विजयानन्द प्रिंटि० प्रेस कणपीठ बाजार सूरत से मुद्रित, वि० सं १९९१

२. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं

कम्मं च मोहप्पभवं नयन्ति । उत्तराध्ययनसूत्र ३२।७

साध्वी चंदना द्वारा सम्पादित वीरायतन प्रकाशन आगरा २. १९७२

३. रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विराग सम्पत्तो ।

एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ समयसार १५०

डा० पन्नालाल साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित. श्री गणेशवर्णी ग्रंथमाला प्रकाशन, वाराणसी-१९७४

परिजनों में अनासक्ति :—

साधनोन्मुख मनुष्य के लिए सर्वाधिक बाधक घर परिवार या स्वजनों के प्रति उसका मोह है। यही कारण है कि सबसे पहले परिवार या स्वजनों में अनासक्ति का उपदेश दिया गया है। 'परिवार के मोही-जन या प्रिय और अप्रिय परिजन, साधक जब बोध को प्राप्त कर साधना के पथ पर चलने का उपक्रम करता है तो अनेक तरह के प्रलोभन व वाग्जाल में उसे बाँधने का प्रयत्न करते हैं यथा—“हे पुत्र ! तू हमको मत छोड़, हमने सदा तुम्हारे अभिप्राय या सुख-दुःख का ध्यान रखा है तुम्हें योग्य बनाने के लिए सब तरह का प्रयत्न किया है”, आदि। वे आक्रंदन एवं रुदन करते हुए साधक को उसके पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्यों का बोध करा उसे रोकने का प्रयास करते हैं। आत्मीय जनों के आक्रंदन एवं आर्त्तस्वर दुर्बलमन वाले साधक को विचलित कर देते हैं एवं स्वजनों के अनुराग के समक्ष उसका वैराग्य शरद ऋतु के बादलों की तरह उड़ जाता है^१। महापुरुषों ने ऐसी परिस्थिति आने पर संयम में दृढ़ रहने एवं आसक्ति का परित्याग करने का उपदेश दिया है। व्यक्ति राग के कारण ही “यह मेरी माता है, मेरा-पिता है, मेरा भाई, मेरी बहन, मेरी पत्नी व मेरी पुत्रबधू है, ऐसा प्रलाप करता है।”^२ वह स्वजनों हेतु एवं व्यक्तिगत स्वार्थ साधन के लिए विभिन्न पाप कर्मों में प्रवृत्त होता है। वह रागवश दूसरों को अपना समझ बैठता है एवं उनके लिए सब कुछ करता है परन्तु वही व्यक्ति जब वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है तो वे ही सम्बन्धी, परिजन उसकी निन्दा करने लगते हैं। रोगादि से ग्रस्त होने पर वे परिजन उसकी उपेक्षा करते हैं। भगवान् महावीर कहते हैं कि “पोष्य-पोषक सम्बन्ध वाले ये सम्बन्धी मृत्यु के आने पर तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते और न तू उनकी रक्षा कर सकता है, अतः उनमें अनासक्ति रख

१. तं परिक्रमंतं परिदेव माणा मा चण्णहि इय ते वयंति छंदोवणीया अज्झो व वन्ना अक्केदकारी जणगा स्यंति...आचारांगसूत्र १।६।१।१७७

आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना से प्रकाशित—पृ० ४९३

२. माया में पिया में मज्जा में पुत्ता में धूआ में...सहिसयण संगथसंथुआ में वही— १।२।१।६३

एवं स्व को पहचान^३” । सूत्रकार घर-परिवार में आसक्त व्यक्ति की तुलना वृक्ष के पत्तों से आच्छादित सरोवर में पड़े हुए कछुए से करता है । जिस प्रकार पत्तों के कारण वह कछुआ वहाँ से निकलने में समर्थ नहीं हो पाता, उसी प्रकार गृहवास में आसक्त जीव गृहस्थ जीवन का त्याग करने में सफल नहीं हो पाता । इसलिए साधक को घर-परिवार में अनासक्तिभाव रखकर, मैं संसार में एकाकी हूँ, मेरा कोई नहीं है इस भावना से आत्मान्वेषण कर जिनोपदिष्ट मार्ग पर चलने का प्रयास करना चाहिए^४ ।

जातिकुल और गोत्र के अभिमान का निषेध :—

कुछ लोग ऊँच-नीच कुलोत्पत्ति के आधार पर स्वयं को श्रेष्ठ एवं अन्य को हीन मानने लगते हैं । परिणामस्वरूप दूसरों के प्रति घृणा एवं तिरस्कार भावना जन्म लेती है । साधक यह जानकर अभिमान का परित्याग करे कि कर्म की आठ प्रकृतियों में से गोत्र कर्म प्रकृति के कारण ही जीव उच्च एवं नीच कुलों को प्राप्त होता है अतः ऊँच या नीच जातिगत या जन्मगत नहीं अपितु कर्मजन्य हैं अर्थात् गोत्र कर्म के उदय से ही प्राणी ऊँच-नीच गोत्र वाला कहा जाता है । उच्च गोत्र में उत्पत्ति से न तो आत्मा में महानता आ पाती है और न ही निम्नगोत्र में पैदा होने से हीनता । प्रत्येक आत्मा इन दोनों गोत्रों का अनन्तबार अनुभव कर चुकी है इसलिए प्राणी को कुलमद नहीं करना चाहिए । सूत्रकार के शब्दों में ‘ऐसा जानकर कौन अपने गोत्र का अभिमान करेगा और किस बात में आसक्त होगा । अतः साधक को अनासक्त भाव से उच्च या नीच गोत्रोत्पत्ति पर हर्ष या शोक न करते हुए सम-भाव में रहना चाहिए ।

धन में अनासक्ति:—ग्रन्थ में धन-सम्पत्ति में अनासक्तिभाव रखने की अनेक स्थलों पर प्ररूपणा की गई है । अर्थ पाप-प्रवृत्ति का जनक है । मनुष्य धन के लिए पागल और उन्मत्त होकर भयंकर से भयंकर पाप करने को उद्यत हो जाता है और उसके दुःखदायी परिणामों की

३. जेहि वा सद्धि सेवसंति तेऽवि ण एगदा णियगा...तुमं पि तेसि णात्तं ताणाए वा सरणाए वा । वही— १।२।३।७८

४. वही—१।२।३।७८

चिंता न कर पाप कर्म में लिप्त होता जाता है। अर्थ-लोलुप दूसरों के हिताहित की चिंता किये बिना चोरी-डाका जैसे दुष्कर्मों से धन प्राप्त करता है। निःसंकोच एवं निःशंक ऐसे अविवेकी एवं दुर्विचारी का धनोपार्जन ही अभीष्ट होता है^१ चाहे उसके लिए अनेक प्राणियों की हिंसा भी क्यों न करनी पड़े। वह सोचता है यह अर्जित धन मेरे पुत्र-पौत्रों के भोगोपभोग के काम आयेगा परन्तु वह यह नहीं जानता कि जब उसके अतिनिकटस्थ भी उसकी रक्षा नहीं कर पाते तो यह जड़ द्रव्य कहाँ तक उसका सहायक होगा। प्रभूत धन पास होने पर भी यदि वेदनीय कर्म के उदय से असाध्य रोगों ने आ घेरा तो यह धन एवं भोगोपभोग के अन्य साधन रंचमात्र भी उसके दुःख को दूर नहीं कर सकेंगे^२। धनसम्पत्ति की निस्सारता का एक सारगर्भित चित्र उत्तराध्ययन^३ के बीसवें अध्ययन में देखने को मिलता है जहाँ अनाथ-मुनि सम्राट क्षेणिक से कहते हैं कि हे राजन ! मेरे पिता प्रभूत धन-ऐश्वर्य के स्वामी थे, भरापूरा परिवार था परन्तु मेरी आँखों में असह्य वेदना होने लगी तो मेरे पिता और परिवार के अथक प्रयास के बावजूद भी मेरी वेदना शांत नहीं हो सकी। पानी की तरह बहाया गया धन मुझे वेदना से त्राण नहीं दिला सका। अर्थलोभी व्यक्तियों के द्वारा संचित धन जो भोगने के पश्चात् भी लाभान्तराय एवं भोगान्तराय कर्म के क्षयोपशम से शेष रह जाता है वह संचित धन उसके आत्मीय जनों द्वारा परस्पर बाँट लिया जाता है, चोरी चला जाता है, राजा द्वारा अधिगृहीत कर लिया जाता है या घर में आग लगने से भस्म हो जाता है, इस प्रकार संचित धन का वह उपयोग नहीं कर पाता। तीर्थङ्कर देव के अनुसार ऐसे धनार्थी लोग इस संसार सागर को कभी

१. अट्ठालोभी आलुम्पे सहसाकारे विणिविट्ठचित्ते. एत्थ सत्थे पुणो पुणो अप्पं च खलु आउयं इह मेगेसि माणवाणं तं जहा । वही-१।२।१।६३
२. वही-१।२।१।६८
३. तत्थ आसी पिया मज्झ पभूयधणसंचओ...पढमे वये महाराय अउला मे अच्छिवेयणा अहोत्था विडलो दाहो सब्वंगेसु य पत्थिवा न य दुक्खा विमोयन्ति एसा मज्झ अणाह्या । उत्तराध्ययन सूत्र-२०।१८-२३
और भी २०।२३-३०

पार नहीं कर सकते^१। ऐसे धनसंग्रहकर्त्ताजीव धन विनष्ट होने पर विक्षिप्त जैसे हो जाते हैं। मोह व अज्ञान के वशीभूत ये धनासक्त नहीं समझते कि भोगोपभोग प्राप्त करने का साधनरूप धन अन्तराय कर्म के उदय होने पर साधन-प्राप्ति हेतु निरर्थक हो जाता है^२। अतः जीव को धन-सम्पत्ति में आसक्त नहीं होना चाहिए। जैन दर्शन के अनुसार धनधान्यादि द्रव्यपरिग्रह हैं अतः अपरिग्रही होने के लिए असंयत लोक के वित्त-धन आदि का अनासक्त भाव से परित्याग करना चाहिए^३।

स्त्रियों में अनासक्ति:—आचारांग के लोक - विजय (द्वितीय) अध्ययन में स्त्रियों को 'महामोह' नाम से अभिहित किया गया है^४। कामेच्छा—भोगाकांक्षा का मूल मोहकर्म का उदय है अतः काम और भोग में आसक्त होने से मोह कर्म की उदीरणा होती है। इससे तृष्णा एवं आकांक्षा में वृद्धि होती है एवं कर्मबंधन होता है। अतः भोग के सभी साधन मोह को बढ़ाने वाले हैं। काम विकार या मैथुन मोह को अधिक उत्तेजित करने वाला है, इससे भोगेच्छा एवं तृष्णा उदीप्त होती है एवं इसकी पूर्ति के लिए स्त्री का सहयोग अपेक्षित है। इसी अर्थ में स्त्री को महामोह कहा गया है। कामी या अज्ञानी पुरुषों के लिए स्त्रियाँ भोग की अनन्य साधन हैं परन्तु वे अज्ञानी नहीं जानते कि ये स्त्रियाँ मोह दुःख, मृत्यु व नरक का कारण हैं^५। वह सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित स्त्रियों पर मुग्ध होता है^६। आरम्भ अत्यन्त कष्ट पाने के बाद वह स्त्रियों का स्पर्श सुख प्राप्त करता है और यही स्पर्श सुख बाद में नरकादि यातनाओं के दण्ड का कारण बनता है^७।

१. आचारांग सूत्र १।२।३।८१

२. तुमं चैव तं सत्त्वमाहृद्दु जेण सिया तेण नो सिया । वही-१।२।४।८५

३. लोण वित्तं च णं उवेहाए एए संगे अविद्याणओ । वही १।५।२।१५०

४. अप्पामाओ महामोहे । वही-१।२।४।८५

५. धीमि लोए पव्वहिए. ते मो वयंति एयाइं आययणाइं. से दुक्खाए. मोहाए. माराए. नरगाए नरगतिरिक्खाए... वही- १।६।४।८५

६. अरत्तं विरत्तं मणिकुंडलं स हिरण्णोव इत्थियाओ परिगिज्जति । वही-१।२।३।८०

७. पुव्वं दण्डा पच्छाफासा पुव्वं फासा पच्छा दण्डा । वही- १।५।४।१६०

तात्पर्य यह है कि कामी पुरुष को स्त्री को प्राप्त करने में अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ता है तब जाकर उसे स्पर्श सुख प्राप्त होता है, फिर यही स्पर्श सुख उसके कर्मबन्धन का कारण बनता है जिससे उसे नर-कादि यातनाओं का दण्ड भोगना पड़ता है। स्त्रियों में आसक्त पुरुष को असंयमित जीवन ही प्रिय लगता है, वह मूढ़ता को प्राप्त होकर विपरीत आचरण करता है^१। वह नहीं जानता कि ये स्त्रियां कलह और संग्रामादि का कारण एवं राग-द्वेष उत्पन्न करने वाली हैं^२। महावीर स्वामी ने कहा है कि भिक्षु स्त्री की कथा न करे, उसके अंग-प्रत्यंग का अवलोकन न करे उसके साथ एकान्त वासता न करे उनमें ममत्व (आसक्ति) न करे तथा उनसे एकान्त में वार्तालाप न करे एवं पापकर्मों का सदा त्याग करे^३। विचारशील भिक्षु यदि ग्राम-धर्म या विषयवासना से पीड़ित हो जाय तो उसे नीरस आहार लेना चाहिए, उनोदरी तप (अल्पाहार) करना चाहिए, ऊँचे स्थान पर खड़े होकर कायोत्सर्ग द्वारा आतापना लेनी चाहिए परन्तु स्त्री में मन को आसक्त नहीं करना चाहिए^४। उसे प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि मैं सब प्रकार के मैथुन का यावज्जीवन त्याग करता हूँ। मैं देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन को कृत, कारित एवं अनुमोदन पूर्वक छोड़ता हूँ^५।

विषय-भोगों में अनासक्ति :—

विषयों में आसक्ति दुःखों का मूल है। आचारांग में विषय-अर्थात् गुण को आवर्त्त एवं मूलस्थान की संज्ञा दी गई है—जे गुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे^६ जे गुणे से मूलठाणे जे मूलठाणे से गुणे^७

१. वही— १।२।३।८०
२. वही— १।५।४।१६०
३. वही— १।५।४।१६०
४. उवहिज्जमाणे गामधम्मैहि अविनिव्वलासए***अवि च ए इत्थीसु मणं ।
वही— १।५।४।१६०
५. वही— १।१।२।१५
६. वही— १।१।५।४
७. वही— १।२।१।६३

अर्थात् विषय या गुण संसार चक्र के मूल कारण हैं। श्रोत, चक्षु, घ्राण, रसना और त्वक् इन पाँच इन्द्रियों के शब्द, रूप, गंध, रस एवं स्पर्श ये पाँच विषय हैं; इन्हें ही गुण कहा गया है, ये ही संसार चक्र या आवर्त एवं मूलस्थान (संसार) हैं। चूँकि संसार का मूल कषाय है एवं कषायों के आश्रय ये गुण हैं अतएव गुण अर्थात् इन्द्रिय विषय संसार के मूल कारण हैं, यह दो प्रकार का होता है—इष्ट और अनिष्ट। इष्ट गुण एवं अनिष्ट गुण के प्रति क्रमशः राग और द्वेष भाव होता है। गुण अर्थात् विषय से कषाय में वृद्धि होती है एवं कषाय से संसार। विषयों में आसक्ति बढ़ने से संसार सम्बन्ध-प्रगाढ़ होता है एवं आत्मा की गति साधना विमुख हो जाती है, सांसारी सुखोपभोग में जीव लिप्त हो जाता है।

आचारांग में कहा गया है कि विषयों में आसक्त प्राणी विषय कामना से सावद्य कर्मों में लिप्त रहते हैं। ये पुरुष अशरणरूप पाप कर्म को शरणभूत मानते हुए नाना प्रकार की वेदनाओं का अनुभव करते हैं। वे नट की भाँति विषयों के पीछे घूमते हैं। अत्यन्त धूर्त एवं आस्रवों में आसक्ति रखने वाले ऐसे पुरुष विषय कषाय भूत कर्म करने में पटु, कर्मानुष्ठान में चतुर, पापों से निवृत्त न होने वाले एवं अविद्या से सुख तथा मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले होते हैं^१। ये विषयपूर्ति हेतु संयम त्याग देते हैं परन्तु भोगासक्त की भोगेच्छा सदैव अतृप्त रहती है क्योंकि इच्छा, तृष्णा या कामना अपरिमित है एवं जीव-आयु सीमित है। इसलिए वह सदैव ही अतृप्त रहता है। वह अपनी इच्छापूर्ति के लिए प्राणियों की हिंसा करता है^२, छेदन-भेदन करता है^३ एवं इच्छा अतृप्त होने पर क्रोध और शोक करता हुआ दूसरों को हानि पहुँचाता है^४। वह अस्थिर चित्त एवं तनाव ग्रस्त होता है^५। काम के दो भेद हैं—

१. आचारांग— १।५।१।१४६

२. वही १।१।६।५२

३. वही १।२।१।६६

४. कामा दुरत्तिकामा जीवियं दुष्पड्विहृगं काम कामी खलुअयं पुरिसे से सोयति. जूरति. तप्पति. पिड्ढति परितप्पति। वही १।२।५।९०

(i) इच्छावासना रूप काम

(ii) मैथुन सेवन रूप काम

इन द्विविध कामों का उद्भव मोहनीय कर्म के उदय से होता है। हास्य-रति आदि से इच्छा, आकांक्षा एवं वासना उद्भूत होती है और वेदोदय से मैथुन सेवन की प्रवृत्ति होती है। अतः काम भोग मोहनीय कर्मजन्य है और जब तक मोहनीय कर्म का सद्भाव रहता है तब तक उनका सर्वथा उन्मूलन कर पाना कठिन होता है क्योंकि मोहकर्म को सब कर्मों का राजा कहा गया है, इसलिए विषय-भोगों की ओर प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। उनका त्याग करना चाहिए। जिन जीवों ने कामभोगों की वास्तविकता को नहीं जाना है—अर्थात् उन्हें तुच्छ, निस्सार एवं अनर्थकारी जानकर नहीं त्यागा है वे उसकी प्राप्ति एवं प्राप्त होकर नष्ट हो जाने से निरन्तर शोक-संताप का अनुभव करते हैं^१। काम-भोगों में आसक्त ऐसे अज्ञानी जीवों के दुःख उपशांत नहीं होते, वे पापकर्मों का उपचय करते हैं, बार-बार दुःखों के आवर्त्त में भ्रमण करते हैं एवं भव-भ्रमण रूप कर्मवृक्ष का सिंचन करते हुए बार-बार गर्भ में आते हैं।^२ कुछ व्यक्ति विषयों से इन्द्रियों का निरोध कर तो लेते हैं परन्तु मोहकर्म के बाधक होने के कारण विषयों से उनकी पूर्ण-अनासक्ति नहीं हो पाती। ऐसे व्यक्ति विषयों के संयोग को त्याग नहीं कर पाने के कारण मोक्ष मार्ग से अनभिज्ञ होते हैं।^३ आचारांग में विषय भोगों के प्रति अनासक्ति की व्याख्या करते हुए कहा गया है—विषय भोग से अनासक्ति या उपेक्षाभाव के लिए पुरुष का इससे पूर्णतया अनभिज्ञ होना (विषय भोग का आस्वाद न करना) आवश्यक नहीं है अपितु विषयों का भोग या सेवन करने के बाद भी उनका त्याग किया जा सकता है। लोग विषय-भोगों का सेवन करके भी त्याज्य भोगों को भोगने की इच्छा नहीं करते। वे भोगों को निस्सार एवं देवभव को भी जन्म एवं मृत्यु रूप जानकर विषय-वासना

१. वही— १।२।५।१५

२. कामेसु गिद्धा निचयं करोति ससिच्चमागा पुणरिति गबभं।

वही— १।२।२।५

३. वही— १।४।४।१३९

में आसक्त नहीं होते^१। जो लोभ को अलोभ से पराभूत करके प्राप्त कामभोगों का आसेवन नहीं करते^२ वे ही सच्चे अर्थों में त्यागी हैं क्योंकि सुन्दर भोग विलास एवं भौतिक सुख-साधनों से युक्त तथा भोग करने में स्वतन्त्र एवं समर्थ रहकर भी इन्हें संसार में परिभ्रमण करने का साधन समझकर त्याग करने वाला ही असली त्यागी है।^३ इसलिए महावीर स्वामी ने विषयभोगों में अनासक्ति भाव रखने की देशना दी है।

आहार में अनासक्ति :—

यद्यपि संयम-साधना हेतु स्वस्थ शरीर महत्वपूर्ण है और शरीर को स्वस्थ बनाये रखने के लिए आहार एवं वस्त्रादि साधन भी आवश्यक हैं किन्तु आचारांग में संयममार्ग में प्रवर्तमान अनगार को किसी विशेष प्रकार के आहार में आसक्ति न रख केवल शरीर निर्वाह के लिए आवश्यक एवं निर्दोष आहार की गवेषणा करने का सामान्य रूप से उपदेश दिया गया है। सूत्रकार के अनुसार संयमनिष्ठ साधु को द्रव्य (घृत-चीनी) आदि का संग्रह न कर त्रिकरण एवं त्रियोग से सदोष आहार का त्याग करना चाहिए। वह न स्वयं सदोष आहार ग्रहण करे, न करावे, न कराने वाले का अनुमोदन करे।^४ सूत्रकार ने 'आमगंध' एवं 'निरामगंध' शब्द को क्रमशः सदोष व निर्दोष आहार के लिए प्रयुक्त किया है। 'आम' शब्द प्रायः प्रायः सभी भारतीय परम्पराओं में प्रयुक्त हुआ है, वैदिक ग्रन्थों में यह शब्द अपक्व, अन्न आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है। पालिग्रन्थों में पाप के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया गया है, इस अपेक्षा से निराम का अर्थ होगा निष्पाप और 'आमगंध' का अर्थ होगा पाप की गंध या आधाकर्म आदि दोषों से दूषित आहार। आचारांग सदोष आहार के त्याग का उपदेश देता

४. आसेवित्ता एतं अट्ठं इच्छेवेगे सगुट्ठया । वही— १।३।६।११५

५. वही— १।२।२।७५

६. जे य कंते पिए भोए. लद्धेविपिट्ठी. कुव्वइ ।

साहीणे चथइ. से हु चाइन्ति वुच्चइ ॥

दसवेआलियं— २।८।३. वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी. प्रकाशक—जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा. कलकत्ता—सं० २०२०

१. आचारांग सूत्र— १।२।५।८८

है। संयमनिष्ठ साधु के आहार की व्याख्या करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि 'साधु' के आहार को आहार उपलब्ध होने पर आहार के परिमाण का भी ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि यदि परिमाण से अधिक भोजन ले लिया जाय तो गृहस्थ को अपने एवं अपने परिवार के लिए कष्ट होगा। इसलिए केवल शरीर निर्वाह हेतु आवश्यक आहार ग्रहण करे। यदि न मिले तो भी उसमें समभाव रखना चाहिए। आहार मिलने पर मुनि को गर्व एवं न मिलने पर खेद नहीं करना चाहिए। प्रचुर मात्रा में आहार मिल जाय तो उसे मर्यादित काल से अधिक अगले दिन के लिए संग्रह करके नहीं रखना चाहिए अन्यथा वह परिग्रही हो जायेगा।^१ आहारार्थी भिक्षु को कालज्ञ, बलज्ञ, विनयज्ञ एवं मात्रज्ञ होना चाहिए, उसे अनौदर्य तप का पालन करना चाहिए। आचारांग के द्वितीय श्रुत स्कन्ध में साधु के आहार के सम्बन्ध में पिण्डैषणा एवं पानैषणा नामक अध्ययन में विस्तृत चर्चा हुई है। यहां यही कहना अभीष्ट होगा कि साधु को प्रिय भोजन में आसक्ति न रख भिक्षा द्वारा गृहस्थ से जो भी निर्दोष आहार मिले उसे निर्लोभ भाव से ग्रहण करना चाहिए।

वस्त्र में अनासक्ति:—

वस्त्र में अनासक्ति का तात्पर्य यह है कि अपरिहार्य स्थिति में जो वस्त्र श्रमण के लिए आवश्यक है उन वस्त्रों में आसक्ति का परित्याग। साधु को चाहिए कि आवश्यकता पड़ने पर जैसे भी साधारण वस्त्र मिल जाय उसी में सन्तोष करता हुआ समभाव से साधना में संलग्न रहे। दशवैकालिक^२ में कहा गया है कि मात्र वस्त्र-पात्र, परिग्रह नहीं अपितु उसमें आसक्ति रखना परिग्रह है। भिक्षु को यह विचार नहीं करना चाहिए कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है इसलिए मैं नये वस्त्र की याचना करूँगा, फटे हुए वस्त्र को सीऊँगा, छोटे से बड़ा या

१. वही-१।२।५।९१

३. (i) दशवैकालिक २।४।१५

(ii) सो य परिग्रहो च्येणाच्येणेषु दब्बेसु मुच्छानिमित्तो भवइ ।

जिनदास चूर्ण-पृ० १५१ प्रकाशक श्री जैनबन्धु मुद्रणालय. इन्दौर
वि० सं० १९८९

बड़े से छोटा करूंगा^१। आचारांग हमें बताता है कि जो मुनि तीन वस्त्रों से युक्त है, वह चौथे वस्त्र की कामना न करे। आचारांग में वस्त्रों को रंगने एवं उनको धोने का निषेध करते हुए परिमाण में अल्प एवं थोड़े मूल्य वाले वस्त्र रखने का उपदेश किया गया है।^२ तीन वस्त्रों से अचेलत्व तक की साधना की विकास यात्रा में तीन से दो, दो से एक वस्त्र एवं बाद में एक वस्त्र का भी परित्याग कर अचेलक बनने का निर्देश किया गया है। वस्त्र के परित्याग से लाघवता होती है एवं लाघवता ही अनासक्ति है। वस्त्राभाव से होने वाले परीषहों के समभाव पूर्वक सहन करने से साधक तपसम्मुख होता है।

शरीर में अनासक्ति :—

मानव शरीर युवाकाल तक सारे भोगों को भोगने में समर्थ होता है परन्तु जर्जर या वृद्ध होने पर, तृष्णा की पूर्ति न होने से दुःख एवं संक्लेश का अनुभव करता है। वृद्धावस्था के आते ही शरीर में झुर्रियां पड़ जाती हैं, पैर लड़खड़ाने लगते हैं, दाँत गिर जाते हैं, दृष्टि कमजोर पड़ जाती है एवं रूप सौन्दर्य का स्थान कुरूपता ले लेती है। भर्तृहरि^३ ने अपने वैराग्य शतक में वृद्धत्व के इस रूप को एवं जराग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीर को धिक्कारा है। आचारांग शरीर में ममत्व न रखने का उपदेश दिया गया है—यह शरीर ऊपर से देखने पर जितना सुन्दर है उतना ही अन्दर से विकृतियुक्त है। शरीर के नव द्वारों से सदा मल निस्स्रवण होता रहता है। शरीर को अशुचिमय समझकर महावीर स्वामी रोगादिग्रस्त होने पर उपचार भी नहीं करते थे।^४ क्योंकि

१. परिजुष्णे में वत्थे. वत्थं जाइस्सामि. सूइं जाइस्सामि...डक्कसिस्सामि बुक्कसिस्सामि... अहियालियं । आचारांगसूत्र— १।६।३।१८२

२. वही १।८।८।२०८

३. गात्रं. संकुचितं गतिविगत्रिता दन्ताश्च नाशंगताः ।
दृष्टिभ्रश्यन्ति रूपमेव हसते वक्त्रं च लालायते ॥
वाक्यं नैव करोति बान्धवजतः पति न सुश्रूयते ।
धिक्कष्टं जर यामि भूतपुरुषं पुत्रोप्यवज्ञायते ॥

भर्तृहरि शतक त्रय. वैराग्य शतकाधिक श्लोक— २५. सिधी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन बम्बई से प्रकाशित—वि० सं० २०१५

४. आचारांग सूत्र—१।९।४।२

उनका ध्यान नश्वर शरीर की तरफ न होकर आत्मा में केन्द्रित था। वे शरीर की निःसारता को जानते थे इसलिए उन्हें शरीर से ममत्व न था। शरीर के प्रति ममत्व रखने वाले अनेक व्यक्ति शरीर के शृंगार के लिए अनेक जीवों की हिंसा करते हैं^१। ध्यातव्य है कि शरीर-सौन्दर्य-प्रसाधन के लिए बनाये जाने पदार्थों में अनेक जीवों के रक्त, मांस, चर्बी आदि का भरपूर उपयोग किया जाता है। शरीर में आसक्त व्यक्ति इस नश्वर शरीर को सजाने-संवारने के लिए अनेक प्राणियों का बध करता है। आचारांग ऐसे शरीर के प्रति ममत्व न रखने का उपदेश देता है।

कर्म में अनासक्ति :—

जैन दर्शन में जीव की क्रिया के हेतु को कर्म कहा गया है^२। कर्म के द्रव्यात्मक एवं भावात्मक ये दो पक्ष हैं। कर्म संकल्प के हेतु रूप में विचारक (उपादानकारण) और उस विचार के प्रेरक (निमित्त कारण) दोनों ही आवश्यक हैं। आत्मा के मानसिक विचार भावकर्म हैं और ये मनोभाव जिस निमित्त से होते हैं वह द्रव्यकर्म है^३। आचार्य नेमिचन्द्र ने कर्म के चेतन-अचेतन पक्षों की व्याख्या करते हुए पुद्गल-पिण्ड को द्रव्यकर्म एवं चेतना को प्रभावित करने वाली उसकी शक्ति को भावकर्म कहा है^४। अतः जैन परम्परा में कर्म के दो पक्ष हैं— (१) राग, द्वेष, कषाय आदि मनोभाव और (२) कर्मपुद्गल। कर्म-

१. वही १।१।६।५४
२. कीरड़ जिण ह्येडहिं. जेणतो भण्णए कम्मं । कर्मविपाक—देवेन्द्रसूरि विरचित. अनु० पं० सुखलाल जी । श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल. आगरा—१९३९ ई०
३. जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन.—डा० सागरमल जैन. पृ० १०७. राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान. जयपुर—१९८०
४. कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि दुविह तु ।
पोग्गल पिण्डो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु ॥ गोम्मटसार—६
आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा विरचित. प्रका "श्री परमश्रुत प्रभावक. जैन मण्डल. बम्बई वि० सं० १९८५

पुद्गल क्रिया का हेतु है और रागद्वेषादि क्रिया है। कर्म, बन्धन का कारण है। जैन दर्शन की मान्यता है कि 'कर्मणाबध्यते जन्तु' यह उक्ति निरपेक्ष सत्य नहीं हो सकती, क्योंकि कुछ कर्म, बन्धन कारक होते हैं एवं कुछ कर्म बन्धनकारक नहीं होते। इन्हें क्रमशः 'कर्म' एवं 'अकर्म' कहा गया है। कर्म के इस स्वरूप की विवेचना हमें सर्वप्रथम आचारांग एवं सूत्रकृतांग में मिलती है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि 'कुछ कर्म को वीर्य (पुरुषार्थ) कहते हैं, कुछ अकर्म को वीर्य' (पुरुषार्थ)। तात्पर्यतः सक्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है एवं कुछ विचारकों की दृष्टि में निष्क्रियता ही पुरुषार्थ या नैतिकता है। महावीर कहते हैं कि 'कर्म' का अर्थ शरीरादि की चेष्टा एवं अकर्म का अर्थ शरीरादिक चेष्टा का अभाव नहीं किया जाना चाहिए, वस्तुतः प्रमाद कर्म है, अप्रमाद अकर्म है"। अप्रमत्त अवस्था में क्रियाशीलता भी अकर्म एवं प्रमत्तदशा में निष्क्रियता भी कर्म बन जाती है। अतः क्रिया का बन्धकत्व उसके पीछे रहे हुए आसक्ति, राग और द्वेष की स्थिति पर निर्भर है। राग, द्वेष एवं कषाय ही किसी क्रिया को कर्म बना देते हैं जबकि कषाय एवं आसक्ति से रहित होकर किया गया कर्म, अकर्म बन जाता है।

आचारांग में महावीर स्वामी ने स्पष्ट कहा है कि जो आस्रव या बन्धन कारक क्रियाएँ हैं वे ही अनासक्ति एवं विवेक से समन्वित होकर मुक्ति के साधन बन जाती हैं^३। पं० सुखलाल कहते हैं कि मिथ्यात्व कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है वही कर्म है^४। राग और द्वेष दोनों कर्म बीज हैं जिसका कारण मोह है। आसक्ति ममत्व से रहित जो कर्म होगा वही अकर्म या अबन्धनकारक होगा। गीता भी जैन दर्शन के अनुरूप ही फलासक्ति से युक्त

१ सूत्रकृतांग-१ ८।१-२ (मधुकर मुनि. श्री आगम प्रकाशन समिति. व्यावर-१९८२।

२. वही १।८।३

३. जे आसवा ते परिसव्वा जे परिस्सवा से आसवा—आचारांग १।१।४।२।१'

४. दर्शन और चिंतन—पं० सुखलाल जी खण्ड १-२ पृ० २२५, प्रका० पं० सुखलाल जी सम्मान समिति, अहमदाबाद-१९५७

कर्म को कर्म एवं फलासक्ति से रहित कर्म को अकर्म कहती है^१। आचारांग एवं गीता में कर्म में अनासक्ति या निष्काम कर्म के स्तर पर कतिपय स्थलों पर विचारसाम्य परिलक्षित होता है। आचारांग सूत्र में कहा गया है अग्रकर्म और मूलकर्म के भेदों में विवेक रखकर ही कर्म कर। ऐसे कर्मों का कर्त्ता होने पर भी वह साधक निष्कर्म ही कहा जाता है। निष्कर्मता के जीवन में उपाधियों का आधिक्य नहीं होता, लौकिक प्रदर्शन नहीं होता। उसका शरीर मात्र शारीरिक क्रियाओं (योगक्षेम) का वाहक होता है^२। गीता कहती है कि आत्म-विजेता इन्द्रियजित् सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखने वाला व्यक्ति कर्म का कर्त्ता होने पर निष्कर्म कहा जाता है। वह फलासक्ति से मुक्त होकर कर्म करता है पर फलासक्ति से बँधा कर्मबंधन से बँध जाता है।^३ उत्तराध्ययन सूत्र में भी स्पष्ट कहा गया है कि भावों से विरत जीव, शोक रहित हो जाता है वह कमल पत्र की तरह संसार रूपी कीचड़ से लिप्त नहीं होता^४। आचारांग निष्कामदर्शी की महिमा की व्याख्या करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि निष्कर्मदर्शी पुरुष आत्मा के मूल को प्रच्छन्न करने वाले घातिकर्म एवं अघातिकर्म चतुष्टय को दूर कर कर्म साधना के द्वारा कर्म बन्धन के आवरण से रहित सर्वज्ञ बन जाता है^५। वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचारांग में जिन वस्तुओं में अनासक्तिभाव रखने की विवेचना की गई है वे मानव व्यक्तित्व के अपरिहार्य एवं आवश्यक अंग हैं। इन वस्तुओं के प्रति राग का त्याग कर भगवान् महावीर द्वारा निरूपित श्रमण-साधना के उच्चशिखर पर पहुँचा जा सकता है। आसक्ति या राग और द्वेष जो कर्मबीजात्मक हैं, ग्रंथिरूप हैं, जिनका खुल जाना ही निग्रन्थ होने का वास्तविक अर्थ है। क्योंकि निग्रन्थ का अर्थ ही होता है ग्रन्थि रहितहोना एवं ग्रंथि का

१. आचारांग-१।३।२।४ द्रष्टव्य-आचारांग (संतबाल) परिशिष्ट ३६-३७
२. गीता-५।७, ५।१२ गीता प्रेस, गोरखपुर १९८२
३. उत्तराध्ययनसूत्र-३२।९९
४. अगं च मूलं च विगिं च धीरे पलिच्छिदिया णं निक्कम्मदंसी—आचारांग १।१।३।२।१
५. एस मरणा पमुच्चई। वही १।३।२।५

निर्माण आसक्ति से होता है। आकांक्षाओं का उच्चस्तर जो सतत् पूर्ण होने की अपेक्षा रखता है, वस्तुतः राग-द्वेष मूलक है क्योंकि मानव स्वभावतः असीम आकांक्षाओं का पुञ्ज है और ये आकांक्षाएं जब पूर्ण नहीं होतीं तो अनेक बुराइयों यथा-द्वेष, शोक, कुंठा एवं हिंसा आदि को जन्म देती हैं, फिर यदि आकांक्षाएं किन्हीं सीमा तक पूरी भी हो जायं तो प्राप्य की प्राप्ति होने पर वह उनके प्रति आसक्ति से मुक्त नहीं हो पाता। इसीलिए आचारांग वस्तु त्याग के स्थान पर ममत्व त्याग को महत्व देता है, क्योंकि जहाँ ममत्व या राग है वहाँ द्वेष भी है, दोनों परस्परापेक्षी हैं। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय सापेक्ष मनोवृत्तियों में अन्तर्निहित हैं। यदि इनमें से किसी एक पर विजय पा ली जाय तो सब पर विजय प्राप्त हो जायेगी^१। व्यवहारतः यह कठिन अवश्य है परन्तु असम्भव नहीं है। आचारांग श्रमण-साधना के जो चित्र प्रस्तुत करता है उनमें अनासक्ति एवं अहिंसा सिद्धान्तः जितने महत्त्वपूर्ण हैं, व्यवहारतः इन्हें मानव-जीवन में उतार पाना निःसन्देह कठिन है। इसका संकेत कल्पसूत्र^२ की टीकाओं में स्पष्टतः परिलक्षित होता है, जहाँ महावीर स्वामी के अनन्य शिष्य आचार्य गौतम के सभी शिष्य-अशिष्य वीतरागता को प्राप्त कर लेते हैं परन्तु स्वयं गौतम नहीं कर पाते। कारण पूछने पर प्रभु ने स्पष्ट किया कि 'तेरी मुझमें जो आसक्ति है, मेरे प्रति जो राग है वही तुम्हारी वीतरागता की प्राप्ति में सबसे बड़ा बाधक है'। महावीर की देशनाओं में अनासक्ति और अहिंसा प्रमुख तत्त्व थे जिनका आचारांग की गाथाओं में अद्वितीय समावेश है। आचारांग में मुख्य रूप से मूल्यात्मक चेतना की सबल अभिव्यक्ति हुई है जिसका प्रमुख उद्देश्य अनासक्ति, सत्य एवं समता आदि के माध्यम से एक ऐसे अहिंसात्मक समाज का निर्माण करना है जिसमें समता के आधार पर सुख, शांति और समृद्धि के बीज अंकुरित पुष्पित एवं पल्लवित हो सकें।

१. जे एगँ जाणइ से सब्वं जाणइ, जे सब्वं जाणइ से एगँ जाणइ जे एगँ नामे से बहुं नामे जे बहुं नामे से एगँ नामे। आचारांगसूत्रः—१।१।३।४

२. (i) एवं च मयि तव गाढत्वेन स्नेहस्य न वेवलज्ञानमुत्पद्यते ।

भगवती, अभय देवकृत वृत्ति, पृ० ११८७

(ii) मुखमग्न पवन्नानं सिनेहो वज्जसिखला

वीरे जीवन्तए जाओ गोयमजं न केवली ।

कल्पसूत्र टीका, विनयविजय कृत, पृ १२१

जैन अभिलेखों की भाषाओं का स्वरूप एवं विविधताएँ

डा० एस० एन० दूबे

जैन अभिलेख प्राकृत, संस्कृत, संस्कृत मिश्रित प्राकृत, कन्नड, संस्कृत मिश्रित कन्नड, तमिल, तेलगू और प्राचीन मरुगूर्जर में उपलब्ध होते हैं। जहाँ तक भाषायी आधार पर अभिलेखों के क्षेत्रीय वर्गीकरण का प्रश्न है, उत्तर-भारत के अभिलेख मुख्यतया प्राकृत^१ संस्कृत^२, या मिश्रित प्राकृत^३ में उत्कीर्ण हैं। दक्षिण भारत में उपलब्ध अभिलेख मुख्य रूप से कन्नड,^४ कन्नडमिश्रित संस्कृत^५, तेलगू^६, संस्कृत मिश्रित तेलगू,^७ और तमिल,^८ कन्नड मिश्रित तेलगू में है कुछ नागरी मिश्रित संस्कृत व संस्कृत मिश्रित गुजराती^९ में हैं। दक्षिण भारत में कुछ अभिलेखों को छोड़कर प्राकृत के अभिलेख कम मिले हैं। काल की दृष्टि से अभिलेखों की भाषा पर विचार करने से ज्ञात होता है कि लगभग तृतीय, चतुर्थ शताब्दी तक के अधिकांश अभिलेख प्राकृत, संस्कृत और संस्कृत मिश्रित प्राकृत में ही उपलब्ध होते हैं।

१. जै० शि० सं०, भा० २, अभि० १३८, १३९ इत्यादि।
२. वही, भा० २, अभि० ८८, ८९, इत्यादि।
३. वही, भा० २, अभि० २, इत्यादि।
४. वही, भा० २, अभि० १३८, १३९ इत्यादि।
५. वही, भा० २, अभि० ९४ ९५ इत्यादि।
६. वही, भा० ४, अभि० २९, ३९, ४४, १०० इत्यादि।
७. वही, भा० २, अभि १४४
८. वही, भा० ४, अभि० १५०, १५१, १६७, १९४, १९५, १९६ इत्यादि।
९. वही, भा० ५, अभि० ६१, ६२, ६३ इत्यादि।
१०. वही, भा० ५, अभि० ९७, ९८, ९९, १००, १०१ इत्यादि।
११. वही, भा० ३, अभि० ३७५

इन अभिलेखों में भाषा के स्वरूप एवं व्याकरण पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। भाषागत अशुद्धियाँ बहुत हैं। कभी-कभी तो इनके अर्थ-निर्धारण में भी कठिनाई होती है। जैन अभिलेखों में सबसे प्राचीन अभिलेख बडली(अजमेर)^१ का माना जाता है। इसकी प्राचीनता के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। मतभेद का आधार उसमें उल्लिखित वीराय शब्द के अर्थ हैं। कुछ विद्वान् वीर को विक्रमादित्य से सम्बद्ध मानकर इसे ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध का बताते हैं किन्तु 'वीराय भगवते' शब्द का उल्लेख महावीर के लिए है। अतः महावीर निर्वाण के ८४ वर्ष बाद का यह अभिलेख माना जाना चाहिए।

काल की दृष्टि से बडली के अभिलेख के पश्चात् जैनों के उल्लेख, से युक्त अशोक के अभिलेखों का क्रम आता है। अशोक के अभिलेख में निर्ग्रन्थ संघ का उल्लेख हुआ है^२। यद्यपि अशोक बौद्ध धर्म का अनुयायी था किन्तु उसके अभिलेखों में पाली का प्रयोग नहीं है, प्राकृत का ही प्रयोग है। साथ ही उसमें आर्ष और मागधी के रूप ही अधिक मिलते हैं। जैसे राजा के स्थान पर 'लाजा'^३ और ब्राह्मण के स्थान पर 'बाभन'^४ इत्यादि। इन प्रयोगों से स्पष्ट है कि इन अभिलेखों में लोक-भाषा का प्रभाव पर्याप्त रूप से था। पढ़ने में यह भाषा कभी संस्कृत के निकट तो कभी प्राकृत के निकट प्रतीत होती है। ब्राह्मणों के लिए 'बामन' शब्द का प्रयोग न तो किसी साहित्यिक प्राकृत में और न ही संस्कृत में मिलता है। इसी प्रकार खारवेल के अभिलेख में एक स्थान पर युवराज के स्थान पर 'योवरज'^५, कल्पवृक्ष के लिये 'कल्परुखे'^६ शब्द का प्रयोग है। इसी अभिलेख में एक स्थान पर 'कलिगराजवंसे'^७

१. जै० शि० सं०, भा० ४, अभि० १।
२. वही, भा० २, अभि० १
३. वही, भा० २, अभि० १
४. वही, भा० २, अभि० १
५. वही, भा० २, अभि० २
६. वही, भा० २, अभि० २. श्लोक २
७. वही, भा० २, अभि० २ श्लोक १,

ऐसे शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः निश्चित रूप से इन अभिलेखों की प्राकृत भी न 'आर्षप्राकृत' है और न अर्धमागधी और न महाराष्ट्रीय ही है।

खारवेल के अभिलेख के पश्चात् मथुरा के अभिलेख आते हैं। इन अभिलेखों की भाषा में अत्यधिक विविधता है। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—'ना अरहतायतने सह मातरे भगिनिवे घितरे पुत्रेण सविन च परिजनेन अरहत पुजाये' इसमें हम देखते हैं जहाँ 'पुत्रेण' ऐसा संस्कृतरूप है वहाँ 'मातरे' रूप भी है, जो न तो संस्कृत कहा जा सकता है न तो प्राकृत ही। इसी प्रकार मथुरा के अभिलेखों की भाषा में कहीं प्राकृतरूप, कहीं संस्कृतरूप और कहीं ऐसे रूप मिलते हैं जिसे न तो संस्कृतरूप कहा जा सकता है और न तो प्राकृत रूप। मथुरा के अभिलेखों तक अर्थात् तीसरी शताब्दी तक जैन अभिलेखों में हमें एक भी शुद्ध संस्कृत का अभिलेख नहीं मिलता है। शुद्ध संस्कृत के अभिलेख सम्भवतः ईसा की पाँचवी शताब्दी से मिलने लगते हैं। इसमें संस्कृत का पहाड़पुर^२ का अभिलेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका भाषायी स्वरूप निम्न प्रकार है—'पंचस्तूपनिकायिकनिर्ग्रन्थ श्रमणाचार्य-गुहनन्दि शिष्य-प्रशिष्याधिष्ठित विहारे'^३।

उक्त अभिलेख की भाषा शुद्ध संस्कृत है। यह उत्तर भारत में बंगाल के अभिलेख का उदाहरण है। दक्षिण भारत में भी इस काल के जैन अभिलेख संस्कृत में मिलते हैं। इनमें देवगिरि^४, हल्सी^५, नोण-मंगल^६ आदि के अभिलेख हैं।

इन अभिलेखों की भाषा व्याकरण निष्ठ संस्कृत है। ई० पू० पाँचवी शताब्दी से लेकर ईसा की पाँचवी शताब्दी तक आते-आते

१. जै० शि० सं०, भा० २, अभि० ८

२. वही, भा० ४, अभि० १९ ए० इ० २०, पृ० ५९

३. वही, भा० ४, अभि० १९

४. वही, भा० २, अभि० ९७, अभि० ९७, ९८, १०५

५. वही, भा० २, अभि० ९७-१०४

६. वही, भा० २, अभि० ९०, ९४

जैन अभिलेख आर्षप्राकृत, मागधी, संस्कृत मिश्रित प्राकृत के दौर से गुजरते हुए शुद्ध संस्कृत स्वरूप में आ जाते हैं। दक्षिण में इस काल के पश्चात् लगभग छठी-सातवीं शताब्दी से कन्नड के अभिलेख मिलते हैं^१। कुछ अभिलेख संस्कृत मिश्रित कन्नड में पाये गये हैं^२। तमिलनाडु में भी पर्याप्त रूप से जैन अभिलेख मिले हैं जो ई० पूर्व प्रथम शताब्दी से प्रारम्भ हो जाते हैं^३। इन प्राचीन अभिलेखों की लिपि ब्राह्मी ही रही है इसके पश्चात् के अभिलेख मुख्यतया तमिल भाषा में हैं। तमिल के अतिरिक्त तेलगू मिश्रित कन्नड^४ और संस्कृत मिश्रित तेलगू^५ में भी कुछ अभिलेख उपलब्ध होते हैं।



१. जे० शि० सं० भा० २, अभि० १३८ १३९ इत्यादि।
२. वही, भा० २, अभि० ९४, ९५ इत्यादि।
३. वही, भा० ५, अभि० २, १६-२४ इत्यादि।

संस्थान प्रकाशन—

महावीर निर्वाण भूमि पावा—एक विमर्श

श्री भगवती प्रसाद खेतान

बुद्धकाल में पावा महत्वपूर्ण नगरी रही है, जहाँ महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था। पावा का सम्बन्ध बुद्ध से भी रहा है। महापरिनिर्वाण के पूर्व वैशाली से कुशीनगर जाते हुए बुद्ध का अन्तिम पड़ाव पावा में ही था। महानिर्वाण के पश्चात् उनके धातु अवशेषों का आठवाँ भाग पावा के मल्लों को प्राप्त हुआ था, जिस पर उन्होंने स्तूप का निर्माण करवाया था। पावा की भौगोलिक स्थिति के विषय में जैन धर्मावलम्बियों, इतिहासवेत्ताओं एवं पुरातत्वविदों के भिन्न-भिन्न मत रहे हैं। पावा के भौगोलिक स्थिति के विषय में जैन साहित्य मौन है। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि पावा कुशीनगर से १२ मील की दूरी पर गंडक की ओर स्थित था।

जैन मुनियों एवं धर्मावलम्बियों ने दक्षिण बिहार के नालन्दा जनपद में बिहार शरीफ से ६ मील की दूरी पर दक्षिण दिशा में स्थित पावापुरी को तीर्थङ्कर महावीर के निर्वाणस्थली के रूप में मान्यता प्रदान की है। प्राचीन जैन ग्रन्थ “कल्पसूत्र” के अनुसार जब भगवान् महावीर कालधर्म को प्राप्त हुए तो उस रात्रि में काशी-कौशल के ९ मल्ल एवं ९ लिच्छिवि—ऐसे १८ गणराज्यों ने यह कहकर दीपावली जलाई कि ज्ञानज्योति का अस्त हो गया है अब हम पौद्गलिक द्रव्यों से प्रकाश करें। “मुनि नगराजजी” के विचार से दक्षिण बिहार की पावा मगधों के प्रदेश में थी, तो वहाँ पर मल्लों, लिच्छिवियों के १८ गणराजा महावीर के निर्वाण के अवसर पर कैसे उपस्थित हो सकते थे, जो शत्रु देश के शासक थे। श्री पूरनचंद नाहर के अनुसार पावापुरी का सबसे प्राचीन अभिलेख १२०३ ई० का है। बौद्ध साहित्य के आधार पर, अगर बिहार शरीफ वाली पावापुरी पर विचार किया जाए, तो कुशीनगर से पावा की दूरी लगभग २३५ मील दक्षिण पूर्व की दिशा में, गंगा नदी के उस पार है इसका गंडक से किसी प्रकार

कोई सम्बन्ध नहीं है। विशेष बात तो यह है कि यहाँ कोई प्राचीन पुरातात्विक सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी, जिससे कि इसे पावा माना जा सके।

उत्तर प्रदेश के पूर्वाञ्चल में उत्तरी-पूर्वी छोर पर बिहार प्रदेश से सटा हुआ देवरिया जनपद स्थित है जिला कार्यालय, देवरिया से कुशीनगर ३४ कि० मी० पर स्थित है। कुशीनगर से सठियाँव-फाजिलनगर दक्षिण १४ कि० मी० पर स्थित है। कारलाईल पहले विद्वान् हैं जिन्होंने सठियाँव-फाजिलनगर को पावा के रूप में मान्यता दी है। कारलाईल के अनुसार, सीलोनी बौद्ध साहित्य में वर्णित, कुशीनगर से पावा १२ मील पर गंडक की ओर स्थित है। कारलाईल कुशीनगर के भग्नावशेषों से, दक्षिण पूर्व में स्थित प्राचीन नगर सठियाँव के भग्नावशेषों की दूरी, १० मील मानते हैं। दिशा-निर्धारण के विषय में, गंडक के सम्बन्ध में कारलाईल मौन हैं। यदि बौद्ध साहित्य के आधार पर पावा के सन्दर्भ में सठियाँव-फाजिलनगर का अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होगा उसकी कुशीनगर से वर्णित दिशा और दूरी का कोई सामञ्जस्य नहीं बैठता है। स्थानीय टीले का उत्खनन, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर तथा उत्तर प्रदेश राज्य पुरातत्व संगठन, लखनऊ के संयुक्त तत्त्वावधान में १९७९ में हुआ था। यहाँ पर “श्रेष्ठिग्रामाग्राहास्य” की अंकित मिट्टी की मुद्रा प्राप्त हुई थी जिससे यही संकेत मिलता है कि सठियाँव का प्राचीन नाम “श्रेष्ठिग्राम” था। श्री कारलाईल इत्यादि विद्वानों ने चैतियग्राम का अपभ्रंश सठियाँव मानकर फाजिलनगर, सठियाँव को पावा सिद्ध करने की चेष्टा की थी किन्तु श्रेष्ठिग्राम के स्पष्ट हो जाने से यह मान्यता निर्मूल जान पड़ती है। वास्तव ये “श्रेष्ठिग्राम” का ही अपभ्रंश “सठियाँव” है, इस प्रकार फजिलनगर-सठियाँव को पावा मानने की कोई सम्भावना प्रतीत नहीं होती है।

देवरिया जनपद के पूर्वी-उत्तरी छोर पर नेपाल की तराई में उत्तरी बिहार की पश्चिमी सीमा से सटा हुआ देवरिया से ३३ मील दूर स्थित कुशीनगर से १२ मील दूर और गंडक नदी से २१ मील की दूरी पर बाड़ी नदी के तट पर पूर्वी देशान्तर ८३°५९' उत्तरी अक्षांश २६°४५' पर पडरौना स्थित है। बौद्ध साहित्य में वर्णित, दिशा

और दूरी के आधार पर, बुकनन ही पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने १८१४ ई० में इस श्रेत्र का सर्वेक्षण किया था और पडरौना के उपनगर छावनी से कुबेर स्थान जाने वाले मार्ग के दाहिनी तरफ छावनी के निकट ही स्थित, प्राचीन टीले का उत्खनन करवाया था। महा-निदेशक, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग, अलेक्जेंडर कनिंघम ने, इस क्षेत्र का १८६१ में सर्वेक्षण तथा इस प्राचीन टीले का उत्खनन करवाकर, इस तथ्य को निश्चित रूप से घोषित किया था कि पडरौना ही पावा है अन्य विद्वानों ने भी समय-समय पर इस तथ्य का अनु-मोदन किया है। कनिंघम ने उत्खनन के आधार पर दोस्तूपों की सम्भावना व्यक्त की है। पडरौना से अनेक जैन एवं बुद्ध मूर्तियाँ एवं कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं। जिनका वर्णन बुकनन एवं कनिंघम ने किया है। बुकनन ने तीन मूर्तियों को रेखांकित किया था जो “इस्टर्न इण्डिया” में उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त मूर्तियाँ एवं कलाकृतियाँ राज्य पुरातत्व संग्रहालय, लखनऊ, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग, पटना मण्डल, पटना, गोस्वामी तुलसीदास इण्टर कालेज, पडरौना में सुरक्षित हैं। काले प्रस्तर की विशाल जैन मूर्ति टीले के निकट अभी तक रखी हुई हैं।

कारलाईल का कनिंघम के मत को खंडन करने तथा पडरौना को पावा न मानने का मूलभूत आधार यह था कि पडरौना की स्थिति वैशाली कुशीनगर के सीधे मुख्य मार्ग पर नहीं है। यह वैशाली-कुशीनगर मार्ग से बिल्कुल हटकर, बहुत उत्तर की ओर स्थित है। अतः पडरौना को पावा मानने की कोई सम्भावना ही नहीं है।

अब मूल प्रश्न मार्ग का है। वैशाली से कुशीनगर का प्राचीन मार्ग कौन सा था ? इस तथ्य के निर्णय के लिए, इस क्षेत्र का बौद्ध-कालीन भौगोलिक अध्ययन नितान्त आवश्यक है। प्राचीन काल से ही इस क्षेत्र की महत्ता रही है एवं प्रमुख राजमार्ग इस क्षेत्र से होकर जाते रहे हैं। “शतपथ ब्राह्मण” से ज्ञात होता है कि सरस्वती के किनारे से वैदिक धर्म की पताका फहराते हुए, अपने पुरोहित गौतम राहुगण तथा वैदिक धर्म के प्रतीक अग्नि के साथ विदेह माधव नदियों को सुखाते, बनों को जलाते हुए, सदानीरा (आधुनिक गण्डक) के किनारे जा पहुँचे, उस समय तक नदी के उस पार वैदिक संस्कृति

नहीं पहुँची थी तथा वह भाग जंगली एवं कृषि-विहीन क्षेत्र था। इस क्षेत्र में विधिवत् मार्ग निर्माण का श्रेय विदेह माधव को ही है जिन्होंने सदानीरा के उस पार विदेह राज्य की स्थापना की थी।

रामायण काल में भी इस क्षेत्र की तथा यहाँ से होकर जाने वाले राजमार्ग की महत्ता रही है। राजा दशरथ के समय यह क्षेत्र कौशल राज्य के अन्तर्गत आता था। सदानीरा (गण्डक) कौशल राज्य की सीमा बनाती थी, अयोध्या, जनकपुर का मार्ग इस क्षेत्र से ही होकर जाया करता था। श्रुति, स्मृति किंवदन्ती के आधार पर प्रचलित है कि राजकुमार रामचन्द्र जी तथा अन्य राजकुमारों की बारात लेकर महाराज दशरथ जब जनकपुर से अयोध्या वापस जा रहे थे तो उन्होंने यहीं पर पड़ाव डाला था, बाँसी नदी का रामघाट इसका प्रतीक है। इसी उपलक्ष्य में प्रतिवर्ष कार्तिक पूर्णिमा को इस नदी के तट पर मेला लगता है। वाल्मीकि रामायण से भी अयोध्या और जनकपुर के बीच के मार्ग का वर्णन प्राप्त होता है। महर्षि वाल्मीकि का आश्रम बिहार के उत्तरी-पूर्वी छोर से लगा हुआ है तथा नेपाल में त्रिवेणी के संगम तट पर स्थित है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि निर्वासिता सीता लक्ष्मण के साथ इसी मार्ग से होकर वाल्मीकि आश्रम गयी थीं। वाल्मीकि रामायण से ज्ञात होता है कि लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु मल्लवंश के जनक रहे हैं। शरीर से हृष्ट-पुष्ट एवं मल्ल युद्ध में प्रवीण होने के कारण इन्हें मल्ल सम्बोधित किया जाता था। चन्द्रकांता नगरी बसाकर उन्हें इस क्षेत्र का राज्य सौंपा गया था।

महाभारत काल में इस क्षेत्र का महत्वपूर्ण स्थान था, जो प्रमुख राजमार्ग के अन्तर्गत आता था। महाभारत में मुख्य मल्ल एवं दक्षिणी मल्ल का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। इस महाकाव्य में गण्डक तथा सदानीरा का उल्लेख बार-बार आता है। महाभारत से ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण जरासंध वध के निमित्त भीम और अर्जुन को तपस्वियों के वेष में सामान्य राजमार्ग, जिसके अन्तर्गत साकेत, वाराणसी, पाटलिपुत्र इत्यादि नगर आते थे, को छोड़कर हिमालय की तराई के मार्ग से होकर जनकपुर गये, वहीं कुछ समय विश्राम कर राजगृह गए थे। इसी क्रम में उन्होंने सरयू, राप्ती, सदानीरा गंडकी इत्यादि नदियों को पार किया था। भीम के दिग्विजय तथा कर्ण के नेपाल

विजय के सन्दर्भ में भी सदानीरा (गंडक) तथा इस मार्ग का उल्लेख प्राप्त होता है।

बुद्धकाल में श्रावस्ती-वैशाली राजमार्ग का विशेष महत्व रहा है। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि पावा उत्तर भारत में अयोध्या श्रावस्ती, श्रावस्ती-कुशीनगर एवं कुशीनगर-वैशाली मुख्य मार्ग पर मल्लराष्ट्र के अन्तर्गत बसी हुई थी। मल्लराष्ट्र, वज्जिगम तंत्र एवं कौशलराज के बीच हिमालय की तराई में स्थित था। गंडक (मही) नदी मल्लराष्ट्र और वज्जिसंघ के बीच सीमा रेखा का कार्य करती थी। वज्जिसंघ में ८ गणराज्य सम्मिलित थे, जो अष्टकुलीक कहलाते थे, जिसमें वज्जि लिच्छिवि और विदेह महत्वपूर्ण माने जाते थे। इसकी राजधानी वैशाली थी। मल्लराष्ट्र दो भागों में विभक्त था। जिनकी राजधानियाँ क्रमशः पावा और कुशीनारा थीं। कुकुत्था (बाड़ी) नदी इसकी विभाजक सीमा रही है। बौद्ध साहित्य से श्रावस्ती-वैशाली मार्ग का वर्णन निरंतर प्राप्त होता है। वैशाली-श्रावस्ती के मध्य राजमार्ग द्वारा महावीर एवं बुद्ध का निरन्तर आवागमन हुआ करता था।

अशोक स्तम्भ मार्ग-निर्धारण में प्रमुख भूमिका अदा करते हैं। सम्राट अशोक ने प्रमुख राजमार्गों पर ही अशोक स्तम्भों का निर्माण करवाया था, जिससे जो यात्रीगण उस मार्ग से जाएँ वे उन स्तम्भों पर लिखे धर्मोपदेशों राजाज्ञाओं को पढ़ सकें तथा उससे मार्ग निर्देशन प्राप्त कर सकें। उन्होंने इन स्तम्भों को गण्डक की पूरब दिशा में, गण्डक से एक निश्चित दूरी को ध्यान में रखते हुए, वैशाली और लौरिया नन्दगढ़ की ओर उत्तर-पश्चिम दिशा की ओर स्थापित करवाए थे। पहला अशोक स्तम्भ वैशाली के निकट ही उत्तर दिशा में कोल्हुआ नामक स्थान पर निर्मित है। दूसरा अशोक स्तम्भ, केसरिया से २० मील उत्तर-पश्चिम, बेतिया से १९ मील दक्षिण-पूरब, लौरिया अरेराज नामक गाँव में स्थापित किया गया है। केसरिया वैशाली से ३० मील उत्तर पश्चिम की ओर स्थित है। यहाँ स्थित टीले के ऊपरी हिस्से पर स्तूप बना हुआ है। आज भी यहाँ पर स्तूप के भग्नावशेष विशाल टीले के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। तीसरा अशोक स्तम्भ बेतिया से १५ मील उत्तर, उत्तर-पश्चिम दिशा में लौरिया नन्दनगढ़

के निकट ही उत्तर-पूर्व की ओर स्थित है। लौरिया नन्दनगढ़ (नवन्द गढ़ से) से पड़रौना, गण्डक के उस पार पश्चिम में सीधी रेखा में दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम के कोने पर २७ मील की दूरी पर स्थित है। लौरिया-नन्दनगढ़ से रतवलघाट होकर, धनहाँ होते हुए पड़रौना आने का सुविधाजनक मार्ग है। यहाँ से कुशीनगर १२ मील की दूरी पर स्थित है। अतः अशोक स्तम्भों के आधार पर यह स्पष्ट है कि कुशी नगर वैशाली मार्ग पड़रौना (पावा) होकर जाया करता था।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही इस क्षेत्र की महत्ता रही है तथा इस क्षेत्र से होकर प्रमुख राजमार्ग जाता रहा है। आज भी पड़रौना एक महत्वपूर्ण नगर है निश्चित है निकट भविष्य में पड़रौना का जैन तीर्थस्थली पावा के रूप में विकास अवश्यम्भावी है।



समाधिमरण की अवधारणा की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में समीक्षा

वीतराग, अनासक्त एवं तृष्णारहित जीवन को अपना परम साध्य मानने वाली सभी साधना पद्धतियों का अंतिम लक्ष्य निर्ममत्व की साधना है। इस साधना का परिपाक समाधिमरण की अवधारणा में होता है। सामान्यतया समाधिमरण (संलेखना) की अवधारणा सभी धर्मों की साधना पद्धतियों में प्रकारान्तर से उपस्थित रही है। किन्तु इस विषय पर विशेष बल जैन साधना पद्धति में दिया गया है। जब मृत्यु जीवन के द्वार पर दस्तक दे रही हो, जब जीवन की सरस धारा सूख रही हो और जीवन को काल के कराल पंजों से मुक्त करा लेना सम्भव नहीं रह गया हो; जीवन व्यक्ति स्वयं और समाज के लिए भार बन गया हो अथवा जब नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को नकार कर ही देह का संरक्षण सम्भव हो, तब मृत्यु से भयभीत न होकर अनासक्ति पूर्वक समभाव से युक्त हो देह का परित्याग कर समुपस्थित मृत्यु का आलिङ्गन कर लेना ही समाधिमरण का तात्पर्य है। देह के प्रति निर्ममत्व का भाव जीवन में कितना विकसित हुआ है, इसकी चरम कसौटी समाधिमरण है। अनासक्त जीवन दृष्टि की और देह के प्रति निर्ममत्व की बात करना सहज है, लेकिन उसे जीवन में प्रति फलित करना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि मनुष्य के ममत्व या आसक्ति का सबसे सुदृढ़ केन्द्र उसका अपना शरीर ही है। मनुष्य के सारे दुःख, दुराचरण और पाप शरीर एवं उससे जनित वासनाओं की परिपूर्ति के निमित्त ही होते हैं। अतः आध्यात्मिक साधना का चरम आदर्श देह के प्रति भी निर्ममत्व भाव को अपना लेना है। समाधिमरण का तात्पर्य न तो जीवन से भागना और न ही जानबूझ कर मृत्यु को निमन्त्रण देना (आत्म हत्या) है, अपितु वह तो अपरिहार्य रूप से जीवन के अन्तिम चरण में समुपस्थित मृत्यु का समत्व भाव से आलिङ्गन करना है। समाधिमरण के लिये जीवन और मृत्यु, दोनों

की इच्छा का परित्याग करना जैनों ने आवश्यक माना है। जीविता-कांक्षा एवं मरणाकांक्षा, दोनों को ही जैन विचारकों ने समाधिमरण का दोष माना है। वह तो सहज और स्वाभाविक रूप में आने वाली मृत्यु का सत्कार और उससे भागने के प्रयत्नों का निराकरण है।

समाधिमरण के सम्बन्ध में जनसाधारण एवं विद्वत्गण, दोनों में ही आज अनेक भ्रांतियां प्रचलित हैं। प्रस्तुत संगोष्ठी का प्रमुख उद्देश्य उन भ्रांतियों का निराकरण कर मनोवैज्ञानिक, नैतिक, समाजशास्त्रीय एवं संवैधानिक परिप्रेक्ष्य में समाधिमरण की अवधारणा का सम्यक् मूल्यांकन करना है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह चिन्तन आवश्यक है कि समाधिमरण का ग्रहण करने वाले व्यक्ति की दंष्टिक स्थिति कैसी होनी चाहिए, उसके व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक संरचना कैसी होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में किस प्रकार की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक अवस्था वाला व्यक्ति समाधिमरण ग्रहण करने की पात्रता रख सकता है। साथ ही यह विचार भी अपेक्षित है कि समाधि-मरण की अवस्था में व्यक्ति में किस प्रकार का मनोवैज्ञानिक परिवर्तन होता है और उसके मानसिक समत्व को किस प्रकार अविचल बनाए रखा जा सकता है। इस सन्दर्भ में जैन आचार्यों के द्वारा सुझाये गये सिद्धान्तों का मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में विचार करना आवश्यक है।

इसी प्रकार समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह विचार करना आवश्यक है कि क्या समाज पर भारस्वरूप बने व्यक्ति को जीवन जीने का अधिकार है? ऐसे व्यक्ति के प्रति समाज का कर्तव्य क्या है? समाधि-मरण की अवधारणा का सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है? क्या वह पलायनवादी जीवन दृष्टि को विकसित करती है? चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से यह विचार करना भी अपेक्षित है कि परिवार और समाज पर भार रूप बने हुए जीवन को विलम्बित करने की अपेक्षा देह रक्षण के प्रयत्नों के त्याग के द्वारा उसे प्राकृतिक रूप से समाप्त होने दिया जाय। इसके साथ ही मृत्यु-दान की अवधारणा का नैतिक और कानूनी मूल्यांकन भी आवश्यक है। क्या मृत्यु-दान हत्या के अपराध की कोटि में आता है? संवैधानिक दृष्टि से व्यक्ति के ऐच्छिक मृत्यु के अधिकार पर विचार आवश्यक है तथा यह विचार भी आवश्यक है कि अपरिहार्य स्थिति में, जब जीवन जीने वाला

व्यक्ति चेतना-शून्य हो, क्या दूसरा व्यक्ति मृत्यु दे सकता है ? क्या वह वैधानिक दृष्टि से हत्या का दोषी माना जायेगा ? क्या समाधि-मरण को प्रोत्साहित करने वाले व्यक्ति आत्म-हत्या के प्रेरक के रूप में वैधानिक दृष्टि से अपराधी माने जायेंगे ? नैतिक दृष्टि से यह प्रश्न महत्वपूर्ण है कि क्या व्यक्ति को स्वेच्छा से देह-त्याग का अधिकार है ? यदि हाँ, तो किन परिस्थितियों में ? पुनः नैतिक मूल्यों की रक्षा के लिए देह त्याग एवं अपवाद मार्ग का अनुसरण में से कौन सा पक्ष उपादेय है । आध्यात्मिक दृष्टि से यह प्रश्न भी विचारणीय बनता है कि क्या शरीर के प्रति निर्ममत्व सम्भव है । इसी प्रसंग में आत्म-हत्या और समाधिमरण के अन्तर का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है । ये सब समाधिमरण की अवधारणा के साथ उभरते हुए प्रश्न हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है ।

प्रस्तुत संगोष्ठी का उद्देश्य मात्र परम्परागत विवरण देना ही नहीं है, अपितु वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समाधिमरण की अवधारणा की समीक्षा एवं मूल्यांकन करते हुए उपरोक्त समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना है । विद्वानों से अपेक्षा है कि वे इनमें से किसी एक पक्ष पर विस्तार से अपने विचार प्रस्तुत करें ।

डा० सागरमल जैन,
निदेशक

‘समाधि मरण’ पर संगोष्ठी

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान के निदेशक डा० सागरमल जैन द्वारा “नैतिक, सामाजिक एवं संवैधानिक परिप्रेक्ष्य में समाधिमरण की अवधारणा का मूल्यांकन” विषय पर दिनांक १३ एवं १४ अक्टूबर, १९९१ को प्रातः ९:३० बजे से दो दिवसीय अखिल भारतीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया है । विद्वानों से वांछित पक्षों पर आलेख दिनांक ३० सितम्बर तक आमन्त्रित किए गए हैं । प्रकाशन हेतु स्वीकृत निबन्धों पर मानदेय की व्यवस्था है । आमन्त्रित विद्वानों को द्वितीय श्रेणी का रेलयात्रा-व्यय देय होगा ।

डा० मुकुलराज मेहता
(संगोष्ठी संयोजक)

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान
आई० टी० आई० रोड, बी० एच० यू०, वाराणसी-५

श्रद्धाञ्जलि



श्री चैनलाल जी जैन मूलतः स्यालकोट के निवासी थे। भारत विभाजन के पश्चात् वे मेरठ (उ० प्र०) चले आये और वहीं उन्होंने अपनी रबर फैक्ट्री स्थापित की इस फैक्ट्री का संचालन उन्होंने इतनी दूरदर्शिता एवं प्रामाणिकता से किया कि रबर के उत्पादनों में उनकी अपनी एक साख बन गई। एक उद्योगपति के साथ-साथ आप एक सामाजिक कार्यकर्ता भी थे। महावीर एजुकेशनल बोर्ड के मैने-

जिंग कमेटी के आप वर्षों तक सदस्य रहे। इसके अतिरिक्त जैन पुरुषार्थी कोआपरेटिव हाउसिंग सोसायटी के सन् १९७८ में प्रेसिडेंट भी रहे। मेरठ के जैन नगर के विकास में आपका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सन् १९९० में आपने महावीर धर्मार्थ जैन औषधालय के संचालन में सहयोग दिया और उसके संरक्षक सदस्य बने। १७ जुलाई १९९१ को आपका स्वर्गवास हो गया। आपका परिवार भरा-पुरा है जिसमें दो पुत्र, छः पुत्रियाँ और तीन पौत्र हैं। पार्श्वनाथ विद्याश्रम परिवार उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

निर्जल तप का विश्व कीर्तिमान

आप सभी को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि बेंगलोर निवासी श्रीमान् बालचन्द्रजी की पुत्रवधू और श्री शान्तिलालजी की धर्मपत्नी श्रीमती विमलादेवी कांकरिया ने बिना अन्न-जल ग्रहण किये ३३ दिन का चौविहार (उपवास) सम्पन्न किया। इनकी यह तपस्या धार्मिक मूल्यों के प्रति जन हृदय में आस्था जागृत करने के लिए महत्त्वपूर्ण है।

मुनि श्री नगराज को १९९० का मूर्तिदेवी पुरस्कार

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सन् १९९० का अष्टम् मूर्तिदेवी पुरस्कार प्राकृत, पालि, संस्कृत एवं हिन्दी के विख्यात विद्वान् और प्राचीन भारतीय संस्कृति के व्याख्याता मुनि श्री नगराज को उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ “आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन” के लिए दिये जाने का निर्णय किया गया। यह पुरस्कार इसके लिए विशेष रूप से आयोजित समारोह में मुनिश्री को समर्पित किया जायेगा। इस पुरस्कार के अन्तर्गत एक प्रशस्तिपत्र और श्रुतदेवी सरस्वती की प्रतिमा के साथ ५१००० रुपये की राशि समर्पित की जायेगी।

सम्भार प्राप्ति :

नवतत्त्व : आधुनिक संदर्भ—लेखक : युवाचार्य महाप्रज्ञ; प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूँ; मूल्य : ५.०० रु०; संस्करण : प्रथम १९९१।

प्रवचनरत्नाकर भाग ३—सम्पा० : डॉ० हुकुमचन्द भारिल्ल; प्रकाशक : पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर; मूल्य : १०.०० रु०; संस्करण : प्रथम १९८३।

श्वेताम्बर जैन तीर्थ पावागढ़—सम्पा० : पन्यास श्री जगन्चन्द्र विजय जी; प्रकाशक : श्री परमार क्षत्रिय जैन सेवा समाज पावागढ़ (गुज०)।

सामयिक सूत्र - संयोजक : मुनि सतीशचन्द्र 'सत्य'; प्रकाशक : श्रीराम प्रसन्न ज्ञान प्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर।

चन्द्रप्रभ की कहानियाँ—मुनि ललितप्रभ सागर; प्रकाशक : श्री जितयशाश्री फाउंडेशन, कलकत्ता; मूल्य : सात रु०; १९८७।

गुरुप्रिया (ब्रह्मसूत्रविवृतः)—प्रकाशक : जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य विद्यापीठम्, वाराणसी; पृ० सं० : १३+४८०; मूल्य : ?; १९८७।

उपहार—लेखक : श्री राजेन्द्र मुनि जी; प्रकाशक : श्री तारन गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर; पृ० सं० १४+११९; मूल्य : १५ रु०; संस्करण : प्रथम १९९१।

चिरप्रवासी—लेखक : श्री जयन्तसेनसूरि; प्रकाशक : राजराजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट, रतनपोल, हाथीखाना अहमदाबाद; मूल्य : ४.०० रु०; संस्करण : तृतीय १९९१ ।

जीवन-ज्योति—संकलनकर्ता : श्री जीवन मुनि जी; प्रकाशक : श्री धर्मदास जैन मित्र-मंडल, रतलाम; मूल्य : ५.०० रु०; संस्करण : प्रथम १९९० ।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव—लेखक : डॉ० हुकुमचन्द भारिल्ल; प्रकाशक : पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ए-४, बाधुनगर, जयपुर; मूल्य : ३.०० रु०; संस्करण : द्वितीय १९९० ।

पद्म-परोक्षा—सम्पादक : दरबारी लाल कोठिया; प्रकाशक : वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट वाराणसी; मूल्य १०.०० रु०; संस्करण : प्रथम १९९१ ।

आँसू और मोती—लेखक : मोतीलाल सुराना; प्रकाशक; नैतिक जीवन ग्रन्थमाला-प्रकाशन इन्दौर; मूल्य : १.५०; संस्करण : प्रथम १९८९ ।

असली और नकली—लेखक : मोतीलाल सुराना; प्रकाशक : नैतिक जीवन ग्रन्थमाला-प्रकाशन, इन्दौर; मूल्य : १.५० रु०; संस्करण: प्रथम १९८९ ।

शब्द और मौन—लेखक : मोतीलाल सुराना; प्रकाशक : नैतिक जीवन ग्रन्थमाला प्रकाशन, १७/३ न्यू पलासिया, इन्दौर; मूल्य : २.०० रु० ;

आदर्श कहानियाँ—लेखिका : साध्वी प्रियदर्शना; प्रकाशक : श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय शास्त्री सर्कल, उदयपुर; मूल्य : ३.०० रु० ।

बोध कथाएं—लेखक : दिनेश मुनि; प्रकाशक : श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, उदयपुर; मूल्य : ३.०० रु०; संस्करण : प्रथम १९८७ ।

जनिज्म ऐन इण्ट्रोडक्सन —लेखक : डा० प्रेम सुमन जैन; प्रकाशक: श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्, जयपुर; मूल्य : ५.०० रु०; १९९० ।

मुक्ति एक अनुशीलन—लेखक : युवाचार्य डा० शिवमुनि; प्रकाशक : श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्, जयपुर; मूल्य—२.०० रु०; १९९० ।

मूल्य आधारित शिक्षा—लेखक : डा० नरेन्द्र भानावत; प्रकाशक : श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्, जयपुर; मूल्य : २.०० रु०; १९९० ।

शान्ति समता और एकता में जैन दर्शन का योगदान—लेखक; चन्दनमल 'चाँद'; श्री अखिल भारतीय जैन विद्वत् परिषद्, जयपुर; मूल्य : २.०० रु०; संस्करण : प्रथम १९९० ।

विश्वशान्ति एवं अहिंसा : लेखक : डा० महावीर सरन जैन; प्रकाशक : वही; मूल्य : वही ।

मूल्य आधारित शिक्षा—लेखक : डा० नरेन्द्र भानावत; प्रका०; वही; मूल्य : वही ।

जैन दर्शन में प्रमाण-निरूपण—लेखक : डा० धर्मचन्द जैन; प्रका०; वही; मूल्य : वही ।

जिन्दगी के स्वर—लेखक—चम्पालाल चौरडिया; प्रका० : वही; मूल्य : वही ।

मुक्तक-माला—लेखक-चन्दनमल 'चाँद'; प्रका० : वही, मूल्य : वही ।

मदिरानो त्याग—लेखक : जयभिक्षु; प्रकाशक : श्री जयभिक्षु साहित्य ट्रस्ट, अहमदाबाद ।

भवसागर—लेखक : वही; प्रकाशक : वही ।

एक सौ ने पाँच—लेखक : कुमारपाल देसाई; प्रकाशक वही ।

आँखू अने आरिसो—लेखक : कुमारपाल देसाई; प्रकाशक : वही ।

पीपाजीनी वाब—लेखक : जयभिक्षु; प्रकाशक : वही ।

बिरादरी—लेखक : कुमारपाल देसाई; प्रकाशक : वही ।

साहित्य-सत्कार

स्टडीज इन देश्य प्राकृत—लेखक : एच० सी० भयानी,
प्रकाशक : श्री हेमचन्द्राचार्य नवम् जन्म शताब्दी स्मृति शिक्षण
संस्कार निधि, अहमदाबाद, पृ० सं० ३०+२८०, मूल्य : १५०-००
रु०; संस्करण : प्रथम १९८८ ।

हेमचन्द्र के ग्रन्थों में देशीनाममाला एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसमें देश्य शब्दों का संकलन किया गया है। उस पर प्रो० भयानी का एक लघु ग्रन्थ 'स्टडीज इन हेमचन्द्राज देशीनाममाला' पार्श्वनाथ विद्याश्रम से पूर्व में प्रकाशित हुआ था। उस ग्रन्थ की सामग्री तथा प्रो० भयानी के देश्य शब्दों के सन्दर्भ में लिखे गये अन्य आलेखों से प्रस्तुत ग्रन्थ की विषयवस्तु का निर्माण हुआ है। प्रस्तुत कृति उन लोगों के लिए, जो कि देश्य प्राकृत के अध्ययन में रुचि रखते हैं अथवा जो देश्य शब्दों के अर्थ एवं प्रयोगों को जानने को उत्सुक हैं, महत्त्वपूर्ण है। प्रो० भयानी की प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य में जो गहरी पैठ है, प्रस्तुत कृति में उसी का प्रतिबिम्ब देखा जाता है। छपाई निर्दोष है एतदर्थ प्रकाशक संस्था धन्यवाद की पात्र है।

×

×

×

यशोधरचरितम्—सम्पादक : डा० भागचन्द्र जैन भास्कर, प्रकाशक : सन्मति रिसर्च इन्स्टीट्यूट आफ इण्डोलाजी, नागपुर, पृ० सं० ८+१५८+१८, मूल्य : ? ; संस्करण : प्रथम १९८८ ।

भट्टारक सकलकीर्ति विरचित यशोधरचरित जैन संस्कृत काव्य साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। यशोधर का कथानक जैन परम्परा में बहुप्रचलित रहा। आचार्य सकलकीर्ति ने उसी कथानक के आधार पर आलोच्य संस्कृत महाकाव्य की रचना की है। इस यशोधर चरित में महाकाव्य के सभी लक्षण पाये जाते हैं। ग्रन्थ की भाषा लालित्यपूर्ण है प्रस्तुत कृति का सम्पादन एक सचित्र पाण्डुलिपि को आधार बनाकर किया गया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में डा० भागचन्द्र

भास्कर द्वारा प्रस्तुत उपस्थापना भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इसमें कथा के विवरण के साथ-साथ इस कथा के ऐतिहासिक विकास तथा कृति के साहित्यिक मूल्यांकन को भी जोड़ दिया जाता तो उनकी उपस्थापना अधिक महत्त्वपूर्ण होती। मुद्रण निर्दोष और आकर्षक है। प्रकाशन संस्था बधाई की पात्र है।

×

×

×

समयसार : निश्चय और व्यवहार की यात्रा—लेखक: युवाचार्य महाप्रज्ञ; प्रकाशक : जैन विश्व भारती लाइन्स; पृ० सं० : ८+१६५; मूल्य : २५०० रु० संस्करण: प्रथम, १९९१।

प्रस्तुत कृति, समयसार की कुछ गाथाओं पर युवाचार्य महाप्रज्ञ के व्याख्यानों का संकलन है। प्रस्तुत कृति में यद्यपि समयसार के सभी पक्षों को समेटने का प्रयत्न तो नहीं किया गया है, फिर भी कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों पर प्रकाश अवश्य ही डाला गया है। इसमें अपने आप को जानें; ज्ञान खोल देता है जीवन में नये आयाम; बन्धन आखिर बन्धन है; सत्य की खोज के दो दृष्टिकोण; कर्मफल भोगने की कला; परिष्कार करें लड़ें नहीं; आत्मा को कैसे देखें; आदि सत्रह विषयों पर समयसार के परिप्रेक्ष्य में युवाचार्य महाप्रज्ञ जी ने अपने विचारों को प्रस्तुत किया है। वस्तुतः उनका यह प्रयास समयसार को एक नयी दृष्टि से व्याख्यायित करने का प्रयास कहा जा सकता है, जिसके फलस्वरूप समयसार जैसा गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थ भी जन-सामान्य के लिए सुबोध बन गया है। यद्यपि इस प्रयास में उनके अपने मौलिक चिन्तन की अनुभूति तो होती ही है किन्तु कहीं-कहीं ग्रन्थ के मूल आत्मा से वे काफी दूर भी हो जाते हैं। भाषा प्रवाहयुक्त और बोधगम्य है। मुद्रण निर्दोष तथा साज-सज्जा आकर्षक है। कृति संग्रहणीय है।

×

×

×

मूकमाटी महाकाव्य : काव्यशास्त्रीय निकष—लेखक : प्रो० शीलचन्द्र जैन; प्रकाशक : दिगम्बर जैन समाज, छिन्दवाड़ा (म० प्र०) पृ० सं० : ५४४; मूल्य : १००० रु०; संस्करण : प्रथम १९९१।

प्रस्तुत कृति में आचार्य विद्यासागर जी के महाकाव्य 'मूक माटी' की काव्यशास्त्रीय समीक्षा प्रस्तुत की गई है। आचार्यश्री का यह काव्य समकालीन हिन्दी साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है जिसमें उन्होंने अध्यात्म की अनेक नई उद्भावनाएँ उद्घाटित की हैं। प्रो० शीलचन्द्र जैन ने उनके इस महाग्रन्थ के विविध पक्षों और आयामों का सम्यक् विश्लेषण एवं मूल्यांकन प्रस्तुत कृति में उपस्थित किया है। अनेक सन्दर्भों में उन्होंने तुलनात्मक विवरण भी दिया है वस्तुतः यह ग्रन्थ मूकमाटी की एक सर्वांगीण संतुलित फिर भी गौरवपूर्ण समीक्षा है। इस ग्रन्थ के माध्यम से जनसाधारण और विद्वान् दोनों को मूकमाटी के अन्तस्तल का दर्शन करने में सुविधा होगी ऐसी अपेक्षा की जा सकती है। ग्रन्थ का मुद्रण निर्दोष एवं आकर्षक है, कृति संग्रहणीय एवं पठनीय है।

×

×

×

आराधना कथा प्रबन्ध—अनु० : डॉ० रमेश चन्द्र जैन; प्रकाशक : आचार्य शान्तिसागर स्मृति ग्रन्थ माला, बुढ़ाना, मुजफ्फरनगर; पृ० सं०; ३२८; मूल्य: ६०.०० रु०; संस्करण : प्रथम १९९०।

भगवती आराधना जैन साधना पद्धति का प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यापनीय और दिगम्बर परम्परा में उसे आगमतुल्य स्थान प्राप्त है। इस ग्रन्थ में जैन साधना से सम्बन्धित उपदेशों के साथ-साथ तत्सम्बन्धी विभिन्न आख्यानों का नाम-निर्देश भी हुआ है। आचार्य हरिषेण ने आराधना में उल्लिखित आख्यानों को सर्वप्रथम कथारूप में प्रस्तुत किया था, उनका यह ग्रन्थ बृहद्कथाकोश या आराधनाकथाकोश के नाम से विश्रुत है। प्रस्तुत कृति का आधार भी भगवती आराधना और हरिषेण का यही बृहद्कथाकोश रहा है। इसकी कथाएँ भी भगवती आराधना में निर्दिष्ट आख्यानों का ही विवरण प्रस्तुत करती हैं। आराधना कथा प्रबन्ध दो भागों में विभाजित है, इनमें ९०-९० कथाएँ संकलित हैं कुछ आवान्तर कथायें भी इसमें दी गई हैं। इस ग्रन्थ के लेखक आचार्य प्रभाचन्द्र हैं किन्तु ये प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड के कर्ता प्रभाचन्द्र से भिन्न हैं। ये यापनीय संघ के आचार्य हैं। भगवती आराधना और

हरिषेण का बृहदकथाकोश यापनीय परम्परा से सम्बद्ध रहा है अतः ये भी यापनीय आचार्य प्रतीत होते हैं। ये व्याकरण शास्त्र के भी पंडित थे तथा प्रतिक्रमणत्रयी पर इनकी एक टीका भी उपलब्ध है। एक अभिलेख में इनका उल्लेख मिलता है। इस सन्दर्भ में विशेष विवरण मैंने अपनी कृति 'जैनधर्म का विलुप्त सम्प्रदाय यापनीय' में दिया है। डा० रमेश चन्द्र जैन ने इन्हें रत्नकरण्डश्रावकाचार; आत्मानुशासन तथा समाधिशतक का टीकाकार बताया है। प्रस्तुत कृति का डा० रमेशचन्द्र जैन द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद भी प्रामाणिक है। यद्यपि ग्रन्थ के प्रारम्भ में उन्होंने एक संक्षिप्त भूमिका प्रस्तुत की है किन्तु यदि तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक दृष्टि से एक विस्तृत भूमिका प्रस्तुत दी जाती तो ग्रन्थ का महत्त्व और भी बढ़ जाता। पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

×

×

×

गोम्मटेशथुदि—सम्पा० : डा० बी०के० खडबडी; प्रकाशक : श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली; पृ० सं० : ७०; मूल्य : २०.०० रु०; संस्करण : प्रथम १९१०।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने आठ प्राकृत गाथाओं में गोम्मटेश (बाहुबलि) की स्तुति की थी प्रस्तुत कृति में उन प्राकृत गाथाओं के साथ-साथ उनका रोमन लिप्यान्तरण तथा अंग्रेजी भाषा में काव्यानुवाद भी प्रस्तुत किया गया है। यह काव्यानुवाद प्रो० बी० के० खडबडी ने किया है। ग्रन्थ के पूर्व उन्होंने लगभग ३२ पृष्ठों में अंग्रेजी में कृति का समीक्षात्मक विवरण भी प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट के रूप में इन गाथाओं का संस्कृत रूपान्तरण और अन्य विवरण प्रस्तुत किया गया है।

×

×

×

जयोदय-महाकाव्य (उत्तरांश)—सम्पादक डॉ० पण्डित पन्नालाल साहित्याचार्य; प्रकाशक : ज्ञानोदय प्रकाशन, पिसनहारी, जबलपुर-३; पृ० सं० : ३७+६२६; मूल्य ८०.०० रु० सजिल्द; संस्करण : प्रथम : १९८९।

जयोदय महाकाव्य का पूर्वार्ध लगभग दशाब्दी पूर्व प्रकाशित हो चुका था किन्तु उत्तरार्ध की प्रतीक्षा पाठकों को बनी रही। प्रस्तुत कृति

पाठकों की उस चिर प्रतीक्षा का समापन है। जैन परम्परा में प्राकृत एवं संस्कृत कथाकाव्यों की रचना की एक सतत् धारा प्रवाहित होती रही है। जो ईसा की तृतीय शती से सत्रहवीं शती तक अपनी निरन्तरता को बनाए रखी किन्तु लगभग दो-तीन शताब्दियों से यह धारा सूखने लगी थी। पं० भूरामल शास्त्री ने बीसवीं शताब्दी (सं० १९३७) में जयोदय काव्य की रचना कर इस काव्य धारा को पुनर्जीवित किया। जयोदय महाकाव्य की कथावस्तु का आधार तो प्राचीन जैन कथा साहित्य ही है। इसमें भरत चक्रवर्ती के सेनापति जयकुमार की जीवनगाथा वर्णित है। यह ग्रन्थ २८ सर्गों में निबद्ध हुआ है। प्रारम्भ के १३ सर्ग पूर्वार्ध खण्ड में प्रकाशित हुए थे। इस उत्तरार्ध में १४ से २८ सर्ग तक कुल १५ सर्ग संकलित हैं। ग्रन्थ का काव्य सौन्दर्य और लालित्य निश्चय ही पाठक को भावप्रवण बना देता है और इस बात का प्रमाण भी है कि जैन परम्परा में पाण्डित्य और रचना सौष्ठव की धारा अभी भी जीवित है। आशा है कि संस्कृत भाषा के विद्वान् प्रस्तुत कृति का आलोकन करके इसकी साहित्यिक समीक्षा प्रस्तुत करेंगे, ताकि जैन विद्वानों के साहित्यिक अवदान का सम्यक् मूल्यांकन हो सकें।

—डॉ० सागरमल जैन



श्रमण

अप्रैल-जून १९९१ रजि० नं० एल० ३९ फोन : ३११४६२



transform plastic ideas
into beautiful shape

NUCHEM MOULDS & DIES

Our high-precision moulds and dies are designed to give your moulded product clean, flawless lines. Fully tested to give instant production the moulds are made of special alloy steel, hard-chrome-plated for a better finish.

Get in touch with us for information on compression, injection or transfer moulds. Send a drawing or a sample of your design. If required we can undertake jobs right from the designing stage.

Write to

NuChem PLASTICS LTD.

Engineering Division 20/6, Mathura Road, Faridabad (Haryana)

KADAVANIL

Edited by Dr. Sagar Mal Jain and Published by the
Director, P. V. Research Institute, Varanasi-221005
Printed at Divine Printers, Sonarpura, Varanasi.